हजारीप्रसाद द्विवेदी

सहज साधना

सहज साधना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृतियों में से एक है, क्योंकि इससे उनके सर्वोपरि विवेच्य—मध्यकाल को सही परिप्रेक्ष्य में सहज ही समझा-समझाया जा सकता है ।

कबीर के अनुसार, माया से बद्ध जीव इस जगत को मिथ्या समझता है । ऐसा समझनेवाले योगियों को वे अज्ञानी कहते हैं । मोक्ष-प्राप्ति के लिए संसार से भागना अथवा योग और तंत्र के कृच्छ्राचार का निर्वाह करना सच्ची साधना नहीं, बल्कि सच्ची साधना कर्म करते हुए अपने बाहर और भीतर ईश्वरीय सत्ता का अनुभव करना है । कबीर और उनके समकालीन अन्य संत-भक्तों का यह विचार एक दिन की उपज नहीं था, बल्कि इसकी पृष्ठभूमि में मध्यकालीन शैवों, बौद्धों और नाथपंथियों की विचारधारा को प्रभावित करनेवाले पूर्ववर्ती संप्रदायों की भी एक सुदीर्घ परंपरा है, जिसका इस पुस्तक में सम्यक विवेचन हुआ है । दूसरे शब्दों में कहा जाए तो **आचार्य द्विवेदी** ने इसमें भारतीय अध्यात्मचेतना की क्रमिक परिणतियों और उनकी विभिन्न साधना-पद्धतियों का गहन विश्लेषण किया है । तुलनात्मक अध्ययन और परीक्षणों से गुजरते हुए मनुष्य के अनुभवजन्य ज्ञान को जो वैज्ञानिकता प्राप्त हुई और इससे उसे जो एक समन्वयात्मक रूप मिला, कबीर उसे ही 'सहज साधना' कहते हैं, अर्थात् अध्यात्म-जगत का समन्वयमूलक वैज्ञानिक रूप ।

वस्तुतः मध्यकाल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चेतना—भक्तिआंदोलन—के सही स्वरूप-विवेचन के लिए **आचार्य द्विवेदी** ने जो असाध्य साधना की, **सहज साधना** उसी का एक महत्त्वपूर्ण सोपान है ।

सहज-साधना

हजारीप्रसाद द्विवेदी

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 125.00

© डॉ. मुकुन्द द्विवेदी

राजकमल से प्रथम संस्करण : 1982
द्वितीय संस्करण : 1989

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली-110 002

मुद्रक : मेहरा ऑफसेट प्रेस
दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

आवरण : चाँद चौधरी

SAHAJ-SADHANA
Criticism by Dr. Hazari Prasad Dwivedi

स्व. पं. रविशंकर शुक्लजो

की

पावन स्मृति में

क्रम

भूमिका	9
निवेदन	15
साधना-केन्द्र	17
शब्द-साधना	45
सुरति और निरति	75
मधुरोपासना	107

भूमिका

भारत की आध्यात्मिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। आत्मा से सम्बन्धित चिन्तन इस देश की अपनी खोज है और वह उतना ही सहज अथवा स्वाभाविक है जितना सूर्य का चमकना, वायु का चलना अथवा नदियों का बहना। वेदों के समय से आज तक यह चिन्तन अबाध रूप में चलता रहा है। कभी एक भावधारा को प्रमुखता मिली है तो कभी दूसरी को। आगे चलकर एकाधिक भाव-धाराओं ने आपस में मिलकर व्यापक भाव-धाराओं का रूप ग्रहण किया और इस प्रकार अनेक सम्प्रदायों का निर्माण हुआ।

आध्यात्मिक क्षेत्र में चिन्तन और तप का बहुत महत्त्व रहा है। परवर्त्ती वैदिक युग में भी कर्मकाण्ड की तुलना में इन दोनों प्रवृत्तियों का स्थान ऊँचा रहा है। इन दोनों के समन्वय से योग का मार्ग अस्तित्व में आया और उपनिषद्-काल में सदाचार के मेल से योग की महिमा बढ़ी। इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए सदाचरण, ज्ञान और तप की त्रिवेणी को सामूहिक रूप से महत्त्व प्राप्त हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि अध्यात्म के क्षेत्र में भक्ति को कोई स्थान नहीं था। भक्ति की धारा भले ही अतीत की पृष्ठभूमि में क्षीण दिखायी दे, किन्तु उसकी शृंखला अनवरत रूप में लक्षित होती है। गीता में हमें इन सभी तत्त्वों के स्पष्ट रूप से दर्शन होते हैं।

भारतीय अध्यात्म का इतिहास हमें यह बताता है कि निरन्तर परीक्षण के द्वारा अनुभवजन्य ज्ञान वैज्ञानिक रूप धारण करता गया और तुलनात्मक अनुभव और परीक्षण से उसे समन्वयात्मक रूप मिलता गया।

आध्यात्मिक जगत् में इसके अनेक उदाहरण हैं। सहज-साधना अध्यात्म-जगत् का एक ऐसा ही समन्वयमूलक वैज्ञानिक रूप है।

सहज-साधना का अपेक्षाकृत स्पष्ट स्वरूप हमें कबीर और उनके समवर्त्ती सन्तों की वाणियों में देखने को मिलता है, किन्तु इसका सीधा सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि यह एक प्रक्रिया की ऐसी परिणति है, जो हमें मध्यकाल के सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार के भक्तों की रचनाओं में दिखायी देती है। इसका कारण यह है कि इन दोनों ही प्रकार के भक्तों ने मूल को पकड़ने की चेष्टा की है और उसकी अभिव्यक्ति क्रमशः प्रेमाभिव्यक्ति के रूप में अधिक स्पष्ट हुई है। कबीर की रचनाओं में जो तन्मयता हमें दिखायी देती है, वह सहसा अन्यत्र उस युग के सन्तों में भी कम मिलती है। कबीर के पूर्ववर्त्ती अध्यात्म-ज्ञानियों के जीवन पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि जिस अवस्था को उन्होंने विशेष साधनाओं से प्राप्त किया था, वह कबीर के लिए अत्यन्त स्वाभाविक अनुभूति के रूप में सुलभ थी। व्यक्ति के रूप में साधना के क्षेत्र में सफलता की दृष्टि से यह स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है, किन्तु इसके पीछे युगों का चिन्तन, मनन और अभ्यास का इतिहास निहित है जिस पर दृष्टिपात करना अत्यन्त रुचिकर और ज्ञानवर्द्धक हो सकता है।

वैदिक काल में स्पष्ट ही कर्मकाण्ड की प्रधानता से समाज पर यह प्रवाह होना स्वाभाविक था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञ-याग आदि के द्वारा पुण्यमय बनाये। कर्मकाण्ड की प्रानधता ने चिन्तन की भावना को यदि दुर्बल नहीं बनाया तो उसके लिए अवकाश की कमी अवश्य कर दी। सामाजिक जटिलता की बुद्धि के साथ-साथ चिन्तन की स्थिति कमजोर होती गयी, जिसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। फल-स्वरूप उपनिषद् और आरण्यकों में हम चिन्तन और एकान्त-सेवन के महत्त्व का विशेष रूप से अनुभव करते हैं। मानव-इतिहास में सबसे पहले ज्ञान और तप की जितनी प्रभावशाली झलक हमें वहाँ दिखायी देती है, उसका उदाहरण अन्यत्र किसी साहित्य में मिलना कठिन है। आगे चल-कर जब विभिन्न दर्शनों के रूप में हमारा चिन्तन प्रकट हुआ, तब ज्ञान

और योग दोनों ही आध्यात्मिक साधना के प्रमुख अंग के रूप में सामने आये।

इतिहास के क्रम-विकास को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य उपकरणों की अपेक्षा ज्ञान की खोज की प्रवृत्ति भारत में सदा ही प्रबल रही है। हिन्दू, जैन, बौद्ध अथवा हिन्दुओं में भी शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों में आन्तरिक रूप में अत्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ दिखायी देती रही हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्तन और परिष्कृत साधन को अपनाने की भावना सभी सम्प्रदायों के आचार्यों में समान रूप से इस प्रकार पायी जाती है कि उनकी भिन्नताओं की अपेक्षा उनकी समानताएँ अधिक उभरकर सामने आती हैं। सहज-साधना की पृष्ठभूमि को समझने के लिए आवश्यक है कि मध्यकालीन सन्तों की विचारधारा को प्रभावित करनेवाले उसके पूर्ववर्त्ती सम्प्रदायों के क्रमिक विकास पर भी विचार किया जाय।

शैवों, बौद्धों और नाथपन्थियों ने मध्यकालीन आध्यात्मिक विचारधारा को सबसे अधिक प्रभावित किया है। शृंखलाबद्ध अध्ययन और खोज के अभाव में मध्यकालीन सन्तों की विचारधारा को भली-भाँति समझने में बड़ी बाधा थी, किन्तु सौभाग्य से पिछले दिनों इस विषय में जो काम हुआ है, उससे उस पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। वैदिक धर्म के बाद बौद्ध विचारधारा ने भारतीय जन-जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। आज भले ही बौद्ध-धर्मावलम्बियों की संख्या देश में अधिक न हो, किन्तु जन-जीवन पर उसका प्रभाव संस्कार बनकर छा गया है।

भगवान् बुद्ध के मत में तृष्णा के क्षय के द्वारा दुःख की निवृत्ति हो सकती है और तृष्णा के क्षय के लिए पवित्र तथा निर्दोष जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः बुद्धदेव के उपदेश व्यक्ति को दुःख से मुक्त करके निर्वाण की ओर ले जानेवाले थे। बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में व्यक्तिगत निर्वाण के स्थान में साधक का लक्ष्य सभी प्राणियों का उद्धार करना हो गया। महायान में करुणा का स्थान प्रमुख है जिससे जीव-सेवा और दूसरे का दुःख दूर करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसके

फलस्वरूप बौद्ध धर्म में जहाँ साधना द्वारा अपने को सक्षम बनाना आवश्यक हो गया, वहीं दूसरों को अपने मार्ग पर लाना भी आवश्यक बन गया। उसके फलस्वरूप विभिन्न वर्गों और मतों के लोगों का महायान में तेजी से प्रवेश होने लगा और अनेक प्रकार के विश्वास और उपासना की विधियों का उसमें समावेश हो गया। महायान का तेजी से विस्तार होने लगा और वह एशिया का सबसे व्यापक धर्म बन गया।

कालक्रम से बौद्ध धर्म में तन्त्र का प्रवेश हुआ। इसके पीछे यही भावना प्रबल जान पड़ती है कि साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर शीघ्रता से बढ़ सके। यह प्रवृत्ति केवल बौद्ध धर्म तक ही सीमित नहीं रही, आगे चलकर हिन्दू और जैन धर्म में भी तन्त्र का प्रवेश हुआ। बौद्ध तान्त्रिक विधियों में समस्त सृष्टि-क्रम का संचालन प्रज्ञा और उपाय के रूप में दिखायी देता है जो शैवों और शाक्तों की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यताओं से विशेष अन्तर नहीं रखता। जो अन्तर है, वह साधनापद्धति और क्रम से सम्बन्ध रखता है। साधना-पद्धति की दृष्टि से सिद्ध और नाथपन्थियों में योग की प्रधानता दिखायी देती है। योग के द्वारा आत्मा को स्थिर करने में और इन्द्रियों और मन के क्षेत्र से अलग करके संयत रखने में जो सहायता मिलती रही है, उसके कारण सभी सम्प्रदायों ने उसे अपनी साधना-पद्धति में स्थान दिया है। यही कारण है कि साधना के इतिहास में योग का अविच्छिन्न रूप हमें दिखायी देता है, वह चाहे अपेक्षाकृत अर्वाचीन हो या अत्यन्त प्राचीन।

महायान की दो धाराएँ हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। दोनों का ही लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। पारमितानय में करुणा, मैत्री आदि की चर्या प्रधान है। पारमिताएँ छः हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा, जिनमें प्रज्ञा अन्तिम और महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रयान के अवान्तर भेद क्रमशः वज्रयान, काल-चक्रयान तथा सहजयान आविर्भूत हुए। वज्रयान तथा काल-चक्रयान की साधना में मन्त्र का प्राधान्य रहता है, सहजयान में मन्त्र पर जोर नहीं दिया गया है।

सहजयान में सहजावस्था की प्राप्ति ही पूर्णता की सिद्धि है। निर्वाण और महासुख उसके ही पर्याय हैं। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेदन करके

निर्विकल्प पद की प्राप्ति ही सहज अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति गुरु के उपदेश से होती है। गुरु को युगनद्धरूप, मिथुनाकार अर्थात् शून्यता और करुणा की मिलितमूर्त्ति अथवा उपाय और प्रज्ञा का समरस विग्रह माना गया है। जो मन और इन्द्रियों के पथ पर निरन्तर भ्रमण करते हैं, वे सहज तत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकते। सहजिया मत में मध्यमार्ग का अवलम्बन कर बिन्दु को स्थिर करते हुए उसको ऊपर संचालित करने पर क्रमशः महासुख पद्म के केन्द्र-स्थान में पहुँचा जाता है। सहज-मार्गियों के अनुसार यह पथ रागपथ है, वैराग्य-पथ नहीं।

बौद्ध महायान के सम्प्रदाय के अन्तर्गत सहज और वज्रमार्ग में अनुभूति-सम्पन्न आचार्य जहाँ सिद्ध कहलाते थे, वहीं शैव नाथपन्थ के आचार्य भी सिद्ध कहे जाते थे। बहुत-से सिद्धगण और शैव नाथपन्थ के आचार्यों के नाम एक ही हैं। परम्परा के अनुसार ये सिद्धगण अपनी प्राकृत और अतिप्राकृत शक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। बौद्ध-साधना का नाथ-परम्परा से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वास्तव में बौद्ध सिद्धगण विचारधारा के अनुसार नाथपन्थी और साम्प्रदायिक परम्परा से बौद्ध थे। नाथ-गणों द्वारा प्रचारित-सिद्धमार्ग में परमपद का 'सहजावस्था', 'सहज' आदि नाम से वर्णन किया गया है। इस सिद्ध-मत में पिण्ड अथवा देह का ज्ञान होने पर परमपद के साथ अभेद प्रतिष्ठित होता है। उस अवस्था में समस्त जगत् का ज्ञान और सब प्रकार की सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध सिद्धों और नाथपन्थी सिद्धों में स्पष्टतः भेद होते हुए भी सहज के सम्बन्ध में स्वरूपात्मक भेद भले ही हो तत्त्वतः भेद नहीं के समान है। और इस प्रकार साधना की यह भावधारा अबाध रूप में प्रवहमान दिखायी देती है, जो आगे चलकर सन्तों की वाणियों में भी परिलक्षित होती है। किन्तु सन्त समुदाय में, वे निर्गुणवादी हों या सगुणवादी, प्रेम और भक्ति के समावेश से स्पष्ट अन्तर भी दिखायी देता है और उसका कारण है : नाम और रूप का माध्यम। इस माध्यम ने सन्तों की साधना को अत्यन्त सहज बना दिया है।

भारतीय अध्यात्म-चेतना की क्रमिक परिणतियों के साधनस्वरूप विभिन्न पद्धतियों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर आचार्य हजारी-

प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'सहज-साधना' में बहुत अच्छे ढंग से प्रकाश डाला है। इन विषयों पर गहराई से विचार किये बिना हम भारत की आत्मा को भली-भाँति नहीं पहचान सकते। इस सम्बन्ध में समुचित सामग्री के अभाव और व्याख्या की कमी से भारतीय संस्कृति की महत्त्व-पूर्ण शृंखला हमारे आँखों से ओझल हो गयी है और हम उसका सही मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे हैं। मेरा विश्वास है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से सन्त-साहित्य, विशेषकर निर्गुण-साहित्य को सही परिप्रेक्षा में समझने में बहुत सुविधा होगी। श्री द्विवेदी मौलिक चिन्तन के लिए विद्वन्मण्डली में सम्मानित हैं और इस पुस्तक में भी पाठकों को सर्वत्र उसके दर्शन होंगे।

द्वारकाप्रसाद मिश्र
अध्यक्ष

मध्यप्रदेश, शासन साहित्य परिषद्
भोपाल

निवेदन

इस पुस्तक में मेरे चार व्याख्यानों का संकलन है। ये व्याख्यान नागपुर में मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् की ओर से आयोजित हुए थे। स्वर्गीय पण्डित रविशंकर शुक्लजी उन दिनों हमारे बीच विद्यमान थे। उन्होंने कई व्याख्यानों में सभापति का आसन सुशोभित करके व्याख्याता का मान बढ़ाया था। इन व्याख्यानों के प्रकाशित होने में देर हो गयी और शुक्लजी हमें छोड़कर हमेशा के लिए चले गये। व्याख्यानों के प्रकाशित होने पर उनकी पवित्र स्मृति ही मन-पटल पर प्रमुख रूप से विद्यमान है। उनके समान गुणग्राही, सहृदय और कर्मठ नेता हिन्दी-जगत् के लिए अब दुर्लभ है। इन व्याख्यानों की एक-एक पंक्ति के साथ उनकी पवित्र स्मृति जुड़ी हुई है। प्रकाशित होते समय कहीं वे देख पाते !

यद्यपि इन व्याख्यानों का विषय सहज-साधना है, पर प्रसंग-क्रम से इसमें ऐसी अनेक साधना-पद्धतियों की चर्चा आ गयी है, जो उतनी सहज नहीं लगेंगी, जितनी कही जाती हैं। शब्दों के भी नसीब का जोर होता है। 'सहज' शब्द भी खींचतान में आया है। 'ह' और 'ज' ये दोनों अक्षर हठयोग और जप-योग के लिए प्रतीक रूप में व्यवहृत बताये गये हैं और जो साधना 'ह' और 'ज' को साथ-साथ लेकर चले, उसे 'सहज-साधना' कहा गया है। इस अर्थ में सारा योगमार्ग खिंच आता है। एक सहृदय ने तो मेरे नाम के आरम्भिक अक्षरों से भी इनका सम्बन्ध जोड़ दिया है ! इस प्रकार 'सहज' को अनेक अर्थों का विषय बनना पड़ा है और इस व्याख्यान-माला के लेखक को भी अनेक ज्ञात-अज्ञात मार्गों की यात्रा करनी पड़ी है। परन्तु 'सहज' वास्तव में सहज ही है। कबीरदास ने घोषणा की थी कि 'सहज सहज

कहते तो सभी हैं, पर उसे पहचानता कोई नहीं !' पहचानने का उपाय उन्होंने बताया था—'जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोय।' विषयों का त्याग करना एक बात है और सहज भाव से विषयों का त्याग करना बिल्कुल दूसरी बात है। उत्तर-मध्यकाल के सगुणमार्गी और निर्गुणमार्गी भक्तों ने इसी सहज मार्ग का अपने-अपने ढंग से निर्देशन किया था।

इन व्याख्यानों के प्रकाशन से मुझे प्रसन्नता हो रही है। परन्तु लिखने में व्याख्यान कुछ अधिक अ-सहज हो गये हैं। प्रयत्न तो यही किया है कि वे पाठ्य रूप में ग्रहणीय हों, पर सर्वत्र यह सम्भव नहीं हो सका।

मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् ने इन व्याख्यानों का आयोजन भी किया और प्रकाशन भी। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उनके आग्रह और प्रयत्न से ही ये पुस्तक-रूप में प्रकाशित हो सके हैं। सहृदय पाठकों को यदि ये व्याख्यान कुछ अच्छे लगें, तभी मेरा यह प्रयास वास्तविक प्रसन्नता का विषय होगा।

चण्डीगढ़ — हजारीप्रसाद द्विवेदी

5-8-1963

साधना-केन्द्र

'मनुष्य का शरीर ही सब साधनाओं का केन्द्र है'

नवीन धर्म भावना : आज से सौ वर्ष पहले के सुसंस्कृत और पण्डित व्यक्ति के साथ आज के सुसंस्कृत और पण्डित की तुलना कीजिए, तो आपको बहुत-से अन्तर बहुत स्पष्ट दिखायी देंगे। उस काल के मनुष्य के मन में स्नान, पूजा और जप का महत्त्व था; सब प्रकार के स्पर्श-दोषों से अपने को बचाये रखकर अपनी कुल-मर्यादा की रक्षा करने की चिन्ता थी। मन्दिर और धर्मशाला यनवाने में, साधु-ब्राह्मण को भोजन कराने में तथा गरीब-दुखी को दान देने में अर्जित धन की चरितार्थता समझी जाती थी और प्राचीन ऋषियों तथा महात्माओं के वचनों में अखण्ड विश्वास पोषण किया जाता था। किन्तु आज के सुशिक्षित व्यक्ति के दृष्टिकोण में बहुत परिवर्त्तन आ गया है। उसकी दृष्टि परलोक से हटकर निश्चित रूप से इहलोक में निबद्ध हो गयी है। वह मठ और मन्दिर बनवाने की अपेक्षा स्कूल और अस्पताल बनवाने में धन की अधिक चारितार्थता समझता है। स्नान, पूजा और जप के स्थान पर परिश्रम करने को और अक्लान्त भाव से की गयी जन-सेवा को अधिक महत्त्व देने लगा है; कार्लायल का यह वाक्य कि काम करना ही पूजा है—'वर्क इज़ वर्शिप'—आज अविसंवादित सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। छूत-छात को हम मनुष्य जाति का भयंकर अभिशाप मानने लगे हैं और कुल-मर्यादा की डींग मारना आज के समझदार मनुष्य के मत से असंस्कृत बुद्धि का भोंडा प्रदर्शन है। वस्तुतः सारे संसार में आधुनिकता की यही पहचान हो गयी है। अठारहवीं शताब्दी के युक्तिवादी विचारकों (रेशनलिस्टों) ने ईसाई-धर्म-संगठन के द्वारा प्रचारित धर्म-भावना के स्थान पर इस मानवतावाद के सिद्धान्त का प्रचार किया था। यूरोपीय विचारकों ने कई प्रकार से इस नवीन धर्म की प्रतिष्ठा की थी। युक्तिवाद तथा व्यवहारवाद पर

आधारित धर्म-भावना में इस नये धर्म के संस्कारों को ही स्थूल रूप देने का प्रयत्न किया गया था। जो कुछ दिखायी दे रहा है, जो कुछ पर्यवेक्षित तथ्य हैं, उन्हीं के आधार पर तत्त्ववाद का रूप निश्चित हो सकता है, बाकी का क्या ठिकाना ! मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ने में क्या तुक है ?

मानवतावाद का जन्म : परन्तु यह सारा प्रयत्न इतने कड़े और भारी युक्तिवाद पर आधारित था कि उन्नीसवीं शताब्दी के तर्क-प्रधान युग को भी उसे स्वीकार करने में हिचक मालूम हुई। मानवतावाद इसका बहुत ही मुख्य और सरस परिणाम है। धर्म-भावना के क्षेत्र में मानव-सेवा, समाज-सेवा, चिकित्सालय, मातृसेवा-सदन-जैसी प्रवृत्तियाँ इसका बाह्य **अयत्न-सिद्ध उपज** रूप रही हैं। राजनीति में प्रजातन्त्र समाजवाद, शान्ति-वाद, प्रभृति विचारधाराएँ इसी की अयत्न-सिद्ध उपज हैं। अयत्न-सिद्ध अर्थात् फोकट का माल—वाई-प्रोडक्ट। इतना तो निश्चित है कि भाव-धाराओं का शोषण इसी विचारधारा से हो रहा है। इस विचारधारा की मूलभूत धारणा यह है कि मनुष्य ही समस्त कर्त्तव्यों और सेवाओं का चरम लक्ष्य है। मनुष्य की सेवा करना, उसका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पाश से मोचन करना और इसी संसार में उसे सब प्रकार से समृद्ध करना मानव का चरम लक्ष्य है। यदि कोई परम देवता कहीं है, तो उसको खेत में काम करते हुए किसानों, सड़क पर गिट्टी तोड़ते हुए मजदूरों के श्रम-बिन्दुओं में ही साक्षात् पाया जा सकता है। निर्मल शिशुओं के हास्य में, विधवाओं और अपाहिजों के क्रन्दन में, अशिक्षितों और गुम-राहों के भ्रान्त आचरणों में और दलितों, पराजितों एवं निष्पेषितों की हाय-हाय में उसका निवास है। मनुष्य की सब पूजाएँ और तपस्याएँ व्यर्थ हैं, यदि उससे दीन-दुखियों के आँसू नहीं पुँछ सके, दलितों और निरन्न लोगों के चेहरों पर आनन्द की हँसी न दिखायी दे जाय, और रोगियों की मर्मान्तिक पीड़ा न समाप्त हो जाय। इस समूची सेवा-भावना का लक्ष्य क्या है ? स्वर्ग ? नहीं; मोक्ष ? नहीं। इस सेवा-भावना का लक्ष्य सेवा-भावना ही है। मनुष्य की सेवा ही साध्य है और मनुष्य की सेवा ही साधन। मनुष्य राष्ट्र, सम्प्रदाय, जाति और परिवार से बड़ा है। इन बातों का महत्त्व वहीं तक है, जहाँ तक ये मनुष्य की सेवा के अविरोधी

हैं। कोई भी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक मान्यता इस मानवतावादी विचार-धारा के प्रतिकूल जाकर ग्रहणीय नहीं हो सकती। युद्ध बुरा है; क्योंकि वह मनुष्य को भयंकर विपत्तियों और दुर्दशाओं का शिकार बना देता है। फाँसी की सजा या यातनापूर्ण कारादण्ड अनुचित है; क्योंकि वह मनुष्य के क्षणिक आवेशों में किये गये कार्यों के लिए दण्ड-रूप में आकर उसके भीतर की अन्य समस्त सम्भावनाओं को नष्ट कर देता है।

मानवतावाद से विचारशक्ति : दीर्घकाल से जिन बातों को अपराध समझा जाता रहा है, वे मानवतावादी दृष्टि से या तो अपराध ही नहीं सिद्ध होतीं या फिर बहुत हल्के अपराध हैं। इसी विचारधारा ने वेश्या-वृत्ति के विरुद्ध दीर्घकाल से चली आती हुई निन्दा-भावना को नये सिरे से विचारणीय बना दिया है। सती-प्रथा और विधवा-विवाह निषेध-जैसी भावनाओं को, जो युगों से सम्मान और श्रद्धा का विषय बनी रहीं, सामाजिक बुराइयों के रूप में समझने की दृष्टि दी है। इस प्रकार सैकड़ों प्रथाएँ, जो किसी समय बहुत महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद मानी जाती थीं, नवसंस्कृत व्यक्ति के चित्त में कम मूल्य की और कभी-कभी हानिप्रद भी मानी जाने लगी हैं और ऐसी बहुत-सी प्रथाएँ, जिनके प्रति घृणा और जुगुप्सा का भाव था, अब खुल्लम-खुल्ला आदर और सम्मान का पात्र बनती जा रही हैं। कैसा अद्‌भुत परिवर्त्तन है!

रामराज्य का स्वप्न : जिस समय मानवतावाद का जन्म हुआ था, उस समय जड़ भौतिक विज्ञान का बोलबाला था; इसीलिए तत्कालीन विचारकों के चित्त में भौतिक विज्ञान द्वारा प्रतिष्ठित प्रत्यक्ष-बोध की मर्यादा का बड़ा मान था। ऐसी आशा की गयी थी कि मनुष्य भौतिक विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण करेगा। निस्सन्देह मानवतावाद मनुष्य को शोषण और बन्धन से मुक्त करके इसी लोक में सुखी और समृद्ध बनाने के महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था। मानवतावाद का साहित्य में निखरा हुआ रूप वैयक्तिक स्वाधीनता है, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय साहित्य में अद्‌भुत क्रान्ति उपस्थित की। परन्तु जड़-विज्ञान के साथ-ही-साथ जहाँ मनुष्य का औदार्य

उन्मिषित होता जा रहा था, वहीं यूरोप के बाहर के देशों पर कब्जा करके वहाँ से लूटी हुई सम्पत्ति के द्वारा अपना-अपना घर भरने की होड़ भी लगी हुई थी।

साम्राज्यवाद और राष्ट्रीयतावाद : इसी मनोवृत्ति ने उस राष्ट्रीयतावाद को जन्म दिया, जिसकी कोख से साम्राज्यवाद नाम का घिनौना बच्चा पैदा हुआ। शुरू-शुरू में ईसाई धर्म का आश्रय लेकर साम्राज्यवाद पनपा था। अन्य धर्म माननेवाले देशों में इसकी अच्छी प्रतिक्रिया नहीं हुई; इसलिए साम्राज्यवाद ने इस नवीन मानवता-धर्म का सहारा लिया, जो उसकी मजबूती और कमजोरी दोनों का हेतु बन गया। एक ओर जहाँ सुसंस्कृत व्यक्ति का चित्त उड़ान लेकर आसमान छूना चाहता था, वहीं लोभी लुटेरों का दल उसे फन्दे में फाँसकर नीचे की ओर खींच रहा था। ऐसा ही हुआ करता है। जब-जब चैतन्य आसमान की ओर सिर उठाता है, तब-तब जड़त्व उसे नीचे की ओर खींचता है। जड़-सत्ता में नीचे की ओर खींचने की अपार शक्ति है और चेतन-सत्ता में ऊपर की ओर उठने का ततोधिक आग्रह। यही द्वन्द्व संसार को थामे हुए है। इसी द्वन्द्व के अन्तरतर में प्रवेश करना और उसकी वास्तविकताओं को समझना सभी समस्याओं का समाधान है। जो हो, यह द्वन्द्व निरन्तर चल रहा है और जब तक सृष्टि है, निरन्तर चलता रहेगा। हमारे देश में यथासमय मानवतावाद भी आया; दलितों, अधःपतितों और उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया, और साथ-ही-साथ राष्ट्रीयता भी आयी। पश्चिमी देशों में राष्ट्रीय भावना के बहुल प्रचार ने एक राष्ट्र के भीतर सुविधा-भोगी और सुविधा के जुटानेवाले दो वर्गों के व्यवधान को बढ़ाने में सहायता पहुँचायी। जिन लोगों के पास सम्पत्ति है और जिनके पास सम्पत्ति नहीं है, उनका अन्तर भयंकर होता गया। एक तरफ तो विषमता बढ़ती गयी और दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी सिद्ध हुई, जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, दूसरी ओर मानवतावाद के विकृत चिन्तन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया, जिसके अनुसार मनुष्यों में भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं—एक उत्तम, दूसरे निकृष्ट; एक में देवत्व की सम्भावनाएँ

हैं और दूसरे में पशुता से कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन विकृत विचारों ने ठाँय-ठाँय दो महायुद्धों को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप में भयंकर हो उठी।

मानवतावाद के व्यक्ति-पक्ष की आलोचना : आज संसार का संवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान् मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न है—यही क्या वास्तविक मानवतावाद है, जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले खेवे के महान् साहित्यकारों ने क्या मानवतावाद की इसी महिमा का प्रचार किया है? आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानवचित्त की गम्भीरतम भूमिका से निकल रहा है—मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति-मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को—व्यक्ति-मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि-मनुष्य को—आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा। आज के सुसंस्कृत मनुष्य की यही कामना है, यही उसके अन्तरतम की चाह है।

जड़-चेतन का द्वन्द्व : मनुष्य और उसकी चाह! क्या यह इच्छा किसी विशिष्ट अदृश्य चैतन्य की, ऊपरी स्तर की, अभिव्यक्ति नहीं है? और यह मनुष्य क्या? न जाने किस पुण्यक्षण में किसी अज्ञात काल के अज्ञात मुहूर्त्त में हमारा यह ग्रहपिण्ड, जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है, सूर्य-मण्डल से टूट गया था। उस समय यह ज्वलन्त गैसों से भरा हुआ था। शुरू से अन्त तक यह केवल ताप से परिपूर्ण था। इस त्रुटित धरती-खण्ड के किस कण में जीव-तत्त्व वर्त्तमान था, कोई नहीं जानता। उसके बाद लाखों वर्ष तक यह पिण्ड ठण्ढा होता रहा, चक्कर मारता रहा, दुर्दान्त वेग से दौड़ लगाता रहा। खिलाड़ी के इशारे पर नाचनेवाले सरकस के घोड़े की तरह यह चक्कर काटता रहा। लाखों वर्षों तक तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा होती रही, लाखों वर्षों तक धरित्री का ऊपरी भाग धसकता-भसकता रहा; लाखों वर्षों तक इसकी पपड़ी ठण्डी होती रही। तब से आज तक यह विचित्र धरित्री-पिण्ड विपुल आकाश में निस्स-

हाय घूम रहा है। कोई भी परवलबगामी धूमकेतु इसे एक ही धक्के में चूर्णविचूर्ण कर दे सकता था और आज भी कर दे सकता है; कोई भी अतिपरवलयपन्थी अतिकाय परिव्राजक पिण्ड इसे चुम्बक की भाँति सटाक से खींचकर निगल ले सकता था और निगल ले सकता है; पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। शायद होगा भी नहीं। धीरे-धीरे दुर्दान्त वेग कम हो गया, तप्त धातुओं की लहाछेह वर्षा रुक गयी, धसकन-भसकन का उत्पात शिथिल हो गया, और सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि एकदम उस नवीन वस्तु का आविर्भाव हुआ, जिसे हम 'जीव' कहते हैं; जीव नहीं, जीव-कण। न जाने कब से जीव-तत्त्व उन तप्त धातुओं में छिपा हुआ अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा में बैठा हुआ था। समस्त जड़-शक्ति के सिर पर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांकुर के रूप में पैदा हुआ, तब पृथ्वी के इतिहास में अघटित घटना ही घटी थी। जड़-शक्ति में सबसे शक्तिशाली थी महाकर्ष की शक्ति—ग्रेविटेशन पावर। नगण्य तृणांकुर ने उसकी नहीं मानी; वह सिर उठाके खड़ा हो गया। समूचे महाकर्ष की शक्ति उसे नीचे नहीं खींच सकी और नही खींच सकी। तब से आज तक वह उस वस्तु को नीचे नहीं खींच सकी है, जिसमें प्राण है। जीव-तत्त्व की ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति आज तक समस्त जड़-तत्त्वों को परास्त करके विराज रही है। न आज तक जड़ ने अपना हठ छोड़ा है और न चेतन ने अपनी आन तोड़ी है। मौका पाते ही जड़ अपनी समूची शक्ति लगाकर चेतन को नीचे घसीटता है और अवसर पाते ही चेतन आसमान की ओर छूटता है। द्वन्द्व आज भी जारी है! लेकिन चेतन परास्त नहीं हुआ है—होगा भी नहीं।

जीव-तत्त्व का विकास : और ऐसा हुआ कि जीव-तत्त्व विकसित होता गया—एक कोश से अनेक कोशों में, सरल संघात से जटिल समूहों के रूप में, कर्मेन्द्रिय-प्रधान जीवों से ज्ञानेन्द्रिय-प्रधान जीवों के रूप में और अन्त में उसने 'मनुष्य' के रूप में अपने को प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है। पण्डितों ने देखा है कि मनुष्य तक आते-आते प्रकृति ने अनेक प्रयोग किये हैं; कितने ही जीव ऐसे बनाये हैं, जिनका नाम भी अब नहीं बच रहा है। इस प्रयोगशाला में प्रकृति ने न जाने कितने प्रयोग किये हैं।

एक वृक्ष बनाने के लिए उसने एक हजार बीज बनाये हैं। इस विशाल फिजूलखर्ची का क्या अर्थ है? यह अद्‌भुत रचना-कौशल क्या अन्ध-प्रचेष्टा का फल है? ये असंख्य प्रयोग क्या राह-भूले व्यक्ति के प्रयास हैं? या योजना बनानेवाली किसी बुद्धि के अभाव के परिचायक हैं? मनुष्य को यहाँ तक ले आने में क्या केवल संयोग ने काम किया है या किसी अज्ञात महाशक्ति का इशारा काम कर रहा है? कौन बतायेगा कि इतनी बर्बादी प्रकृति ने किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सही है।

इच्छा-शक्ति का उन्मेष : मनुष्य के आने के पहले प्रकृति अपने आप लुढ़कती-पुढ़कती, घिसटती-घिसटती चल रही थी। मनुष्य ने उसकी कार्य-कारण-परम्परा की नीरन्ध्र-ठोस भूमिका में दरार किया। उसने 'इच्छा-शक्ति' को प्रवेश कराया। अब तक जो कुछ जैसा था, वैसा होने को बाध्य था। मनुष्य ने कहा—'जैसा है, वैसा नहीं; जैसा होना चाहिए, वैसा'। यहीं से सृष्टि का नया अध्याय शुरू हुआ। मनुष्य प्रकृति के आदेश को न मानकर वह रास्ता ढूँढ़ने लगा, जिसमें प्रकृति उसकी इच्छा की अनुवर्त्तिनी हो। वह विजयी हुआ। उसके इशारे पर प्रकृति चलने लगी। क्या यह रक्त को झनझना देनेवाली वार्त्ता नहीं है? इससे अधिक उल्लास और उत्कम्प पैदा करनेवाली बात और क्या हो सकती है?

इच्छा-शक्ति : एक रहस्य : जड़-शक्ति की ठोस-नीरन्ध्र-परम्परा में दरार! यह क्या यों ही हो गया? क्या इस इच्छा-शक्ति का आविर्भाव एकाएक हो गया? आधुनिक मनुष्य कहता है, यह एक रहस्य है, 'मिस्ट्री' है। परन्तु सचमुच ही यह 'मिस्ट्री' है—मिस्ट्री या रहस्य, जिसका कोई समाधान न मिलता हो! कमल की पंखड़ियाँ एक-एक करके खुल रही हैं—ठीक है; पर क्या यों ही खुल रही हैं? क्या भीतर से फट पड़ने-वाली व्याकुलता किसी के इंगित पर नहीं प्रकट होती है? क्या ऊपर से सूर्य की रश्मियाँ धीरे-धीरे नहीं उतर रहीं हैं? एक तरफ अवतार हो रहा है, दूसरी तरफ उद्धार। एक तरफ अवतार का अनुग्रह और उद्धार का आग्रह ही क्या सृष्टि-लीला नहीं है?

मध्ययुगीन अनुशीलन : हमारे देश के ऋषियों और सन्त-महात्माओं ने अपने ढंग से इस प्रश्न पर विचार किया था; उपरले सतह पर दिखने-

वाली चेतना के अन्तरतर में प्रवाहित विराट् चेतना को उन्होंने अपने ढंग से सोचा था और उस विराट् इच्छा-शक्ति के मूल स्रोत भी खोज लाने का प्रयत्न किया था। बहुत पहले उन्होंने मनुष्य की महिमा का सन्धान पाया था। जो कुछ भी विपुल ब्रह्माण्ड में है, उसे पिण्ड में देखने का उनका ढंग निराला था। उन्होंने उस महाद्वन्द्व को भी गहराई में जाकर देखने का प्रयत्न किया था, जो इस समस्त सृष्टि को रूपायित कर रहा है। उनके देखने के ढंग और निष्कर्षों में आज के ढंग और निष्कर्षों से मौलिक भेद था। मैं यहाँ यह नहीं कहने जा रहा हूँ कि आप उनकी सारी बातें स्वीकार कर लें या यह कि आप आज के समूचे प्रयत्नों को व्यर्थ समझकर उसी रास्ते चलने लगें। नहीं, मैं ऐसा नहीं कहता; पर मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि उस समूचे चिन्तन को एकदम भुला न दिया जाय। उसमें भी सत्य है, उसमें भी प्रकाश देने की क्षमता है। मैं खूब जानता हूँ कि इस युग में भी पुराने आदर्शों और विश्वासों के भूत मनुष्य का पिण्ड नहीं छोड़ रहे हैं और नवीन आलोक में प्रतिभासित भावी युग की मृग-मरीचिका उसे कम गुमराह नहीं कर रही है। ये अतीत के भूत और भविष्य की मृग-मरीचिकाएँ मनुष्य के चित्त में अनेक प्रकार के ऐसे संस्कारों को पैदा करती हैं, जो उसकी दृष्टि को मोहाकुल बनाती हैं और उसके लिए स्पष्ट देखने की क्रिया में बाधा उत्पन्न करती हैं। पुराने धार्मिक विश्वासों के मर जाने पर भी उनके बहुत-से निर्जीव स्थूल रूप—जो विधि-निषेधों और आचारों के रूप में प्रकट होते रहते हैं—उसे घेरे रहते हैं, और कई बार उन विश्वासों का मार्ग रोककर खड़े हो जाते हैं, जो आज भी जीवन्त हैं और जिन्हें सचमुच जीवन्त रहना चाहिए। आज की एक बड़ी भारी समस्या यह भी है कि मनुष्य निर्जीव रूढ़ियों, मरे हुए विश्वासों और मोह के उद्रेचक संस्कारों से बुरी तरह जकड़ गया है और जीवन के जीवन्त मूल्यों को ग्रहण करने में बाधा अनुभव करता है। वह यह तो जानता है कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्' (सभी पुरानी बातें ठीक ही नहीं हैं और सभी नयी बातें बुरी ही नहीं हैं); परन्तु सैकड़ों प्रकार की विचारधाराओं से नित्य टकराकर वह यह सोच ही नहीं पाता कि 'असाधु' पुराण और 'अनवद्य' नवीन है क्या वस्तु? क्या आज तक जिन ऋषियों और सन्तों की वाणियों ने मनुष्य में

क्षणभंगुर मूल्यों के स्थान पर शाश्वत मूल्यों की प्रतिष्ठा करनी चाही है, वे सब नवीन मानवतावाद के एक ही झटके में समाप्त हो गयीं ? क्या अतीत को एकदम अस्वीकार करके भविष्य का हृदयहारी भवन निर्मित हो सकता है ? क्या सन्तों और भक्तों के पुराने साहित्य में जो कुछ उपलब्ध होता है, वह केवल मृत विचारों के भूत हैं या उनमें कुछ ऐसे प्राणवान् तत्त्व भी हैं, जो इस युग के विचाराघात-जर्जर मानव को कुछ आशा का सन्देश दे सकते हों ?

मेरा विश्वास है कि पुराने सन्तों और महात्माओं के विचार में सार-तत्त्व बहुत अधिक मात्रा में है। पर उन विचारों को आपके सामने उपस्थित करते समय मैं अपने इस विश्वास को यथासम्भव आपके विचार का बोझ नहीं बनने दूँगा। मेरी कामना तो यही है कि आपको अपने विश्वासों और संस्कारों से गुमराह न बनाऊँ और यथाबुद्धि विचारों को समझाकर ही विरत हो जाऊँ।

सहज-साधना पृष्ठभूमि : मध्ययुग के निर्गुणमार्गी सन्तों और सगुण-मार्गी भक्तों के सन्देश को ठीक-ठीक समझने के लिए उनकी पूर्ववर्त्ती साधनाओं से परिचय होना बहुत आवश्यक है। जब कबीरदास ने कहा था कि 'सहज-सहज तो सब कहते हैं, पर सहज को कोई पहचानता नहीं', तब उनके मन में निश्चित रूप से सहज-साधना का दावा करने वाले अनेक साधक-सम्प्रदायों की स्थिति और परम्परा की बातें थीं और इसी प्रकार जब सूरदासजी ने पूछा था कि 'निर्गुण कौन देस को बासी ?', तो उनके मन में निर्गुण-भाव की साधनाओं की पूर्ववर्त्ती परम्परा अवश्य विद्यमान थी। भारतवर्ष कोई नवसिखुआ देश नहीं है। मध्ययुग की साधनाओं का विचार करते समय हम केवल उसी युग में बँधे रहकर ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त नहीं कर सकेंगे। हर साधना के पीछे एक विस्तृत इतिहास है। नाना प्रकार के धार्मिक सम्प्रदायों और दार्शनिक विचारों के अपात दृश्यमान स्वरूप ही सबकुछ नहीं हैं। सहस्रों वर्ष के अतीत के इतिहास में उनकी जड़ें बहुत गहराई तक गयी हैं। भक्तिकाल के पहले इस देश में नाथ-सम्प्रदाय का बड़ा जोर था। फिर शाक्त-साधनाएँ समूचे देश में फैली हुई थीं। शाक्त-साधनाओं का इतना प्रबल

प्रभाव था कि नाथ लोग भी अपने को 'कौल' कहते थे। वस्तुतः मत्स्येन्द्र-नाथ के नाम पर जो कुछ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, वे उन्हें कौल ही सिद्ध करते हैं। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने 'कौलज्ञान-निर्णय' और 'अकुल वीरतन्त्र' प्रभृति ग्रन्थों का सम्पादन किया है, जो मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित बताये गये हैं। 'सिद्ध सिद्धान्त-संग्रह' आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि "मत तो हमारा 'कौल' ही है।"

कौल-साधना : कौल अर्थात् 'कुल की उपासना करनेवाले'। 'कुल' शक्ति का और 'अकुल' शिव का नाम है। इस प्रकार कौलों और नाथों के मत में बहुत साम्य है। दोनों के साधना-पक्ष में अन्तर भी है, परन्तु यहाँ मैं इस पक्ष के विस्तार में नहीं जाना चाहता। यहाँ मेरा उद्देश्य केवल यही है कि नाथ और कौल-साधना अपने देश के इतिहास में किसी जमाने में बहुत प्रबल थी। इन साधनाओं ने उससे भी पहले की बौद्ध-साधनाओं से बहुत-कुछ ग्रहण किया था। यद्यपि निर्गुणमार्गी सन्तों से सहजयानी-वज्रयानी बौद्धों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता, तथापि कौल और नाथों की मध्यस्थता से उनके बहुत-से भाव सन्तों की साधना में भी रूप, वेश और स्वभाव बदलकर मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य की प्रत्यक्ष धारा में आनेवाले उपनिषद् और पुराण आदि धर्म-ग्रन्थ, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि दार्शनिक विचारधाराएँ तो बराबर ही इन सन्त-भक्तों को प्रेरणा देती रहीं। कुछ भी चर्चा करने के पहले उस विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का जानना बहुत आवश्यक होगा।

मानव-देह की श्रेष्ठता : चौरासी लाख योनि, चौरासी अंगुल का शरीर : उत्तर मध्यकाल के भारतीय मनीषियों ने मनुष्य-देह की श्रेष्ठता स्वीकार की थी। चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद बड़े पुण्य से यह चौरासी अंगुल का मानव-शरीर प्राप्त होता है। दो प्रकार से इस मानव-शरीर को महिमा मिली। प्रथम तो यह कि जो समस्त विश्व की नियन्त्रणकारिणी पराशक्ति है, वह यद्यपि घट-घट में व्याप्त है, यद्यपि कोई अणु-परमाणु ऐसा नहीं है जो उसकी सत्ता से सत्तावान् न बना हो, तथापि वह अपनी सर्वश्रेष्ठ लीलाएँ मनुष्य-शरीर को आश्रय करके

ही प्रकट करती है। यद्यपि विष्णु के अनेक अवतार हुए, तथापि जो अवतार सर्वाधिक मानवीय हैं—राम, कृष्ण और बुद्ध—उन्हीं को आश्रय करके इस काल की सारी धर्म-साधना और काव्य-साधना विकसित हुई। दूसरी ओर यह कहा गया कि भगवान् को कहीं बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। यह शरीर ही उनका आवास-स्थल है, इसी में शिव और शक्ति की, 'निरगुन' और 'सरगुन' की नित्य लीला चल रही है—'मो को कहाँ ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में'।

संयोगवश हमारे देश की परम्परा का स्वाभाविक विकास रुद्ध हो गया। आधुनिक दृष्टि जिस दिन हमें प्राप्त हुई, उस दिन हममें प्राचीन ज्ञान को परख लेने की दृष्टि नहीं रह गयी थी। अगर इस दृष्टि का स्वाभाविक विकास होता, तो क्या होता, यह कहना कठिन है। मानवता यदि हमारी परम्परा के क्षेत्र में उगती, तो क्या और कैसा वृक्ष उगता, कैसा फूल खिलता, यह सब अब केवल अनुमान का विषय रह गया है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' और पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' से उसकी एक झलक मिल सकती है। लेकिन ये प्रयास भी गाढ़ चिन्तन के परिणाम हैं, स्वतःस्फूर्त सहज विकास के रूप नहीं।

पारख-पद : पहले हम निर्गुणमार्गी भक्तों की बात लेंगे। साधारणतया मध्यकाल के निर्गुणमार्गी या ज्ञानमार्गी सन्तों को तर्क-परायण भक्त माना जाता है। कारण शायद यह है कि उन्होंने 'पारख' (परीक्षा) या विवेक पर बहुत अधिक जोर दिया है। प्रत्येक वस्तु को ठोंक-पीटकर देख लेने की ओर उनका पक्षपात अधिक है। जो बात धार्मिक विश्वास और परम्परा-समागत रूढ़ियों को आश्रय करके जी रही है, उसकी परीक्षा के लिए तो वे और अधिक सतर्क दीखते हैं। कबीरदास को ही लीजिए। उनके नाम पर पाये जानेवाले सैकड़ों पदों में यह बात नाना भाव से घुमा-फिराकर कही गयी है। जिस आदमी ने खरे-खोटे का विचार किये बिना ही विश्वास कर लिया, वह उस मूर्ख महाजन की भाँति है, जो मूल गँवाकर लाभ की आशा करता है :

खरा खोट जिन नहिं परखाया,
चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया।

इसलिए विवेक और विचार परमावश्यक है। विचार सत् और असत् के यथार्थ स्वरूप को पहचानने में सहायता करता है और विवेक सत् से असत् को और असत् से सत् को अलग कर देता है। 'पारख' के ये ही दो स्तर हैं। कबीरदास ने दोनों को साधना-मार्ग का आवश्यक सहायक माना है। मनुष्य को दुःख-कष्ट इसलिए है कि उसे यथार्थ ज्ञान नहीं है और जो दुःख उसका नहीं है, उसे वह अपना माने बैठा है। विचार से यह दुःखानुभूति दूर हो सकती है, परन्तु फिर भी वास्तविक वस्तु का पाना बाकी रह जाता है। विवेक उसे इसी वास्तविकता की ओर उन्मुख करता है। वह, झूठ के साथ जो सम्बन्ध है, उसे दूर कर देता है। इसीलिए कबीरदास ने कहा है :

करु बिचार जेहि सब दुख जाई,
परिहरि झूठा केर सगाई।

अब यदि इस बात को अपनी तर्कसंगत सीमा तक घसीटा जाय, तो वह वहाँ जाकर रुकती है, जिसे आजकल 'अनुसन्धान' कहा जाता है। 'अनुसन्धान' विश्वास का परिपन्थी माना जाता है। अनुसन्धान किसी बात को, वह जैसी दिख रही है, वैसी नहीं मानना चाहता। संसार की वास्तविकता को उसकी गहराई में जाकर खोजने की आवश्यकता है। जो कुछ जैसा दीख रहा है, उसका वही स्वरूप नहीं भी हो सकता। प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसकर देख लेना आवश्यक है। अनुसन्धान की लपेट से न तो धर्म बच सकता है, न आत्मा, न ईश्वर, न योग, न भक्ति। इसी बात को प्राचीन शास्त्रकारों ने इस प्रकार कहा है कि वही धर्म के वास्तविक रहस्य को जानता है, जो तर्क से अनुसन्धान करता है : 'यस्तर्केणानुसंधन्ते स धर्मं वेद नेतरः'।

अनुसन्धान का मार्ग : आज तक वास्तविक सत्य को पहचानने के लिए अनेक तर्कपूर्ण प्रयास हुए हैं। यह खेद का ही विषय कहा जाना चाहिए कि इस पद्धति ने मनुष्य को केवल सन्देह-परायण बनाया है। तर्कपूर्ण अनुसन्धान से जितने परिणाम निकले हैं, वे परस्पर-विरोधी और अपूर्ण सिद्ध हुए हैं। क्या कबीरदास को इस श्रेणी का तार्किक माना जा सकता है ? क्या उन्होंने जिस 'पारख-पद' को इतना बहुमान दिया है,

वह अन्त तक जिज्ञासु को भटकाने-भरमानेवाला ही होकर रहेगा ? कोई नहीं कह सकता कि कबीरदास ने अविश्वास-परायण नास्तिकता का सन्देश दिया है। फिर वह क्या बात है, जो कबीरदास को एक साथ 'पारख' का पक्षपाती और विश्वासपरायण भक्त, दोनों बना देती है ? आपात दृष्टि से तर्क और विश्वास में कोई मेल नहीं है, वे परस्पर-विरोधी बातें हैं।

सन्तों के सन्देश को समझने के लिए यह ठीक-ठीक जानना आवश्यक है कि तर्क और विश्वास किन अंशों में परस्पर-विरोधी हैं, और कोई ऐसा स्थान है या नहीं, जहाँ दोनों मिल सकते हों।

फिलॉसफी और थियॉलॉजी—तर्क और विश्वास : एक पश्चिमी पण्डित ने संसार के तत्त्ववाद का इतिहास लिखा है। भूमिका में उन्होंने बताया कि पुस्तक में भारतीय दर्शनों की चर्चा उन्होंने एकदम छोड़ दी है; क्योंकि जिस चीज को पश्चिम में फिलॉसफी (ज्ञानानुसन्धान) कहते हैं, उसका भारतवर्ष में विकास हुआ ही नहीं है। फिलॉसफी का मूलमन्त्र सन्देह है और धर्मविज्ञान (थियॉलॉजी) का केन्द्रीय सत्य विश्वास है। भारतीय दर्शनों ने कभी भी धर्म-विज्ञान को छोड़ा नहीं। पश्चिमी पण्डित के इस तर्क में विचारणीय बातें हैं। यह सत्य है कि भारतवर्ष के दर्शनों का मूल प्रतिपाद्य धर्म ही है; परन्तु यह धर्म वह वस्तु नहीं है, जिसे पश्चिम में 'थियॉलॉजी' कहते हैं। दर्शन शब्द का अर्थ ही है देखना। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करता है। इसीलिए भारतवर्ष में जिस वस्तु को दर्शन कहते हैं, उसका केन्द्र-बिन्दु 'सन्देह' नहीं है, बल्कि योग द्वारा समाहित चित्त का अनुभूत (दृष्ट) सत्य है। इस सत्य के आलोक में 'द्रष्टा' जगत् के और आत्मा के मूल स्वरूप की विवेचना करता है और दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग खोजता है।

धर्म-विज्ञान आप्त-वाक्यों, प्रचलित परम्पराओं और रूढ़ विचारों से प्राप्त विश्वास का तर्क से समर्थन करता है। वह धर्म का तत्त्ववाद है। 'भारतीय दर्शन' वस्तुतः दार्शनिक 'धर्म' का प्रतिपादन करते हैं। फिलॉसफी ग्रीक भाषा से आया हुआ शब्द है। उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

'ज्ञान के प्रति प्रेम' है। जानकार लोगों का कहना है कि पश्चिम के तत्त्ववाद ने ज्ञान के प्रति प्रेम का जैसा परिचय दिया है, वैसा परिचय ज्ञेय के प्रति प्रेम का नहीं दिया है।

पाँच तत्त्व : मनुष्य एकदम विचारशून्य होकर कभी नहीं रहता। वह कभी इस प्रकार विचार करता है, जिसमें तर्क विश्वास की सहायता करता है और कभी इस प्रकार, जिसमें तर्क सन्देह को उद्रिक्त करता है। कबीरदास के 'पारख' का रहस्य समझने के लिए हम मनुष्य की समूची अनुसन्धित्सा को पाँच मोटे विचारों में विभक्त करके देख सकते हैं। ये विचार साधारणतः पाँच बातों को केन्द्र करके चले हैं—(1) भौतिक तत्त्व, (2) प्राणतत्त्व, (3) मनस्तत्त्व, (4) बुद्धितत्त्व, और (5) अध्यात्मतत्त्व। पाँचों की दो-दो परिणतियाँ हुई हैं। जिस परिणति ने सन्देह को उद्रिक्त किया है, वह 'दार्शनिक मतवाद' का रूप धारण कर गयी है। इस प्रकार समस्त तत्त्वानुसन्धान इन दस मोटे विचारों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

सहज-साधना में पाँच तत्त्व : इन पाँचों को सहज भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है—(1) विश्व की प्रपंच-विधायिका शक्ति बाहर है, (2) कुछ भीतर है, कुछ बाहर है, (3) केवल भीतर है, बाहर जो कुछ है, वह भीतर की छाया है, (4) बाहर भीतर एक ही है, और (5) बाहर तथा भीतर दोनों को लेकर और दोनों से अतिरिक्त कोई एक है।

इनका परिणाम : (1) भौतिक तत्त्व को ही सबकुछ का मूल माननेवाले सन्देह-परायण विचारक शरीर को एक मशीन-मात्र मानते हैं। भौतिक पदार्थों के संयोग से यह शरीर बना है। जब तक पुर्जे दुरुस्त हैं, तब तक यन्त्र भी चल रहा है। पुर्जे टूट जायेंगे, तो शरीर भी नष्ट हो जायेगा और उसी के साथ प्राण और आत्मा सभी कुछ विलीन हो जायेंगे। सबकुछ बाहर है, भीतर कुछ भी नहीं है। विश्वासपरायण विचारक के चित्त में जब यह बात आती है, तब वह जल-थल, आकाश-पर्वत, नदी-नाले सबकुछ में अपूर्व दैवी शक्ति का अनुभव करता है। प्रत्येक शरीर-अवयव इन शक्तियों से अधिष्ठित और चालित है। सबकुछ बाहर है; पर सब-कुछ में एक अतिप्राकृत शक्ति वर्त्तमान है। (2) भौतिक विज्ञान की उन्नति

ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। दूसरे स्तर पर जाकर मनुष्य ने अनुभव किया है कि चेतन और जड़ दो वस्तुएँ हैं। चेतन प्राण-शक्ति की भीतरी रचनात्मक शक्ति का विकास है। जड़ और चेतन से ही यह जगत्-प्रपंच बना है। विश्वास-परायण विचारक ने जड़ पदार्थों के साथ-साथ ही नाना प्रकार के देव-देवी, भूत-पिशाच आदि की कल्पना की। यह विश्व-ब्रह्माण्ड नाना प्राणवान (असुर) शक्तियों से भरा हुआ है। सो, यद्यपि भीतर भी कुछ सत्य है, परन्तु बाहर और भी जबर्दस्त नियन्तृ-मण्डली बैठी है। (3) मनुष्य इससे भी ऊपर उठा। यह जगत्-प्रवाह वस्तुतः मनुष्य-मन की अपेक्षा में ही सत् है। मनुष्य का भीतर ही बाहर की कल्पना करता है। जगत् मानस-प्रवाह की कल्पना है। मन स्वयं क्षणभंगुर है और उसके द्वारा कल्पित जगत् तो क्षणिक है ही। जो कुछ है, वह मनुष्य का चित्त है। विश्वासपरायण मनुष्य ने जब इस सत्य का अनुभव किया, तब उसने इस रहस्य के नियन्ता परमात्मा की मनुष्य रूप में कल्पना की। मनुष्य के रूप में ही भगवान् लीला करते हैं। सभी धर्मों में इस बात को इस प्रकार कहा गया कि मनुष्य स्वतः भगवान् की प्रतिकृति है। वस्तुतः मनुष्य का चित्त भीतर ही भीतर सबकुछ का स्रष्टा है। (4) किन्तु यह भी बाह्य है। मनुष्य के पास मन से भी सूक्ष्म यन्त्र है। वह बुद्धि है। बुद्धि से उसने जगत् के नाना सम्बन्धों पर विचार किया कि भीतर और बाहर एक है, एक ही अद्वैत तत्त्व। यहाँ आकर विश्वास और तर्क आपाततः 'एक' हो गये। दोनों ने घूम-फिरकर यह निष्कर्ष निकाला कि भीतर और बाहर एक ही अद्वैत तत्त्व है। यह अतीन्द्रिय है; पर बुद्धि-ग्राह्य है। लेकिन यह आपात ऐक्य वस्तुतः 'ऐक्य' नहीं है।

ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता : यदि ज्ञेय को ही प्रधान मान लिया जाय और ज्ञान को उसका परिणाम समझा जाय, तो यह जड़ाद्वैत होगा। तर्क-परायण विचारक इसी अद्वैत तक पहुँचेगा। परन्तु यदि ज्ञान को प्रधान मान लिया जाय और ज्ञेय को उसका परिणाम माना जाय, तो यह चेतनाद्वैत होगा। विश्वासपरायण विचारक इसी नतीजे पर पहुँचेगा। परन्तु इन दोनों में ही जो बात उपेक्षित है, वह ज्ञाता है। ज्ञान और ज्ञेय में से कोई एक प्रधान है और दूसरा उसकी अभिव्यक्ति है, इस बात को जानने-

वाला तत्त्व इन मतों में उपेक्षित रह जाता है। ऊपर जितने भी मत गिनाये गये हैं, उनमें इस ज्ञातृ-तत्त्व की उपेक्षा हो गयी है। जो यह सब अनुभव कर रहा है, वही वस्तुतः समस्त सत्यों का सत्य है। उसे बाहर नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्पष्ट ही वह भीतर अनुभूत हो रहा है। फिर केवल भीतर भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि बाहर का जगत् भी स्पष्ट ही उसके अनुभव का विषय है। कबीर ने कहा है:

भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा।
भीतर-बाहर सकल निरन्तर चेत-अचेत दुइ पीठा।

सो, चेतन और अचेतन उस एक परम-तत्त्व के दो पीठ हैं। वह बाहर और भीतर दोनों को अंग बनाकर वर्त्तमान है।

यह तत्त्व अनुभवगम्य है। नाना प्रकार के संयम और वैराग्य से प्रतिष्ठित चित्त से ही इसका साक्षात्कार होता है। वह जड़ और चेतन से परे है। उसे पोथी पढ़ने से नहीं जाना जा सकता। वह राग-द्वेष से मलिन चित्त में उसी प्रकार प्रतिभात नहीं होता, जिस प्रकार मलाच्छन्न मुकुर में मनुष्य की प्रतिकृति नहीं दीखती।

तीन विचारधाराएँ : जिसे 'वास्तविकता' कहा जाता है, वह क्या है? मोटे तौर पर तीन प्रकार के विचार इस दृष्यमान् जगत् की वास्तविकता के बारे में मिलते हैं—(1) प्रथम यह कि जो कुछ दिख रहा है, वह सत्य है, वह वास्तव है। इस विचार के पोषक अपने को यथार्थवादी कहा करते हैं। यह जो जड़ जगत् है, वह सत्य है, वह वास्तव है, यथार्थ है। प्राण, मन और बुद्धि इसी के क्रमिक विकास हैं। मनुष्य की बुद्धि पर्याप्त विकसित हो चुकी है। उसे इस जगत्-प्रपंच को देखने के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हैं, जो असल में मस्तिष्क के स्नायुओं के ही अतिवर्द्धित रूप हैं, जिसे अंग्रेजी भाषा में 'आउटग्रोथ' कहते हैं। इन पाँच सूक्ष्म यन्त्रों के द्वारा मनुष्य शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-मय जगत् का पता पाता है। किन्तु कठिनाई यह है कि भौतिक विज्ञान के द्वारा हमने यह जाना है कि इस जगत् को जैसा हम देख रहे हैं, वह थोड़ी-सी विवेचना के बाद ही अवास्तव मालूम होता है। जिसे श्रवणेन्द्रिय (कान) नहीं है, उसके लिए शब्द की कोई सत्ता ही नहीं। आँख में यदि विकार आ जाय, तो जो रंग

सबको नीला दिखता है, वह विकार-ग्रस्त आँखवाले को पीला दीख सकता है। नीला रंग सबको एक ही समान नीला नहीं दीखता। यह एक औसत कामचलाऊ धारणामात्र है। शब्द को उष्णता (स्पर्श) में और उष्णता को रूप में बदल देना तो आज विज्ञान के बायें हाथ का खेल है। जगत् जैसा दीख रहा है, वह औसत (नार्मल) मनुष्य की कामचलाऊ धारणा-मात्र है। इस कामचलाऊ धारणा को सत्य, वास्तव या यथार्थ कहने में भौतिक विज्ञान झिझकता है। सचाई कुछ और है, जो इन आपात दृश्यमान् इन्द्रिय विषयों के अन्तराल में है। ज़रा-सा तरंगों के हेर-फेर से शब्द स्पर्श बन जाता है। स्पर्श रूप बन जाता है। दृश्यमान् जड़-जगत की सचाई केवल बात की बात है। तो सच क्या है? जड़-तत्त्व का स्वभाव, उसका सहजात कोई धर्म है, जिसे हम जान नहीं पाये। इसलिए जड़-तत्त्व को ही यथार्थ और वास्तव माननेवाले थोड़ी दूर तक ले जाकर हमें अँधेरे में छोड़ देते हैं। वे कहते हैं कि अभी तक हमें इतना ही मालूम है। उसके बाद क्या है, खोजना चाहिए। है जरूर, मगर जब मनुष्य की बुद्धि और भी विकसित होगी, तभी हम उसे जान सकेंगे। अभी और खोजो, और, और। कब इस अनुसन्धान-कार्य की समाप्ति होगी, कोई नहीं जानता। शायद कभी नहीं होगी। सचाई खोजने से मिल ही जायेगी, उसकी कोई गारण्टी नहीं है। पर मनुष्य चुप नहीं बैठेगा, वह खोजता जायेगा, खोजता जायेगा। खोजने में मनुष्य की मनुष्यता है। वह अक्लान्त यात्री होकर ही धन्य होता है। जड़-तत्त्ववादी यह नहीं बताता कि इस खोजने की जो दुर्दम्य लालसा है, वह क्यों है। क्या इस उन्मत्त अभिसार-यात्रा का कोई लक्ष्य नहीं है? क्या मालूम? प्रिय का नाम नहीं, रूप नहीं, पता नहीं और वह है भी कि नहीं, यह भी नहीं मालूम; पर अभिसार चल रहा है। अभिसार ही अभिसार की चरितार्थता है। जड़-तत्त्ववादी से अधिक आदर्शवादी कौन है? हाय, हाय, कितनी गहराई से यह प्रेमलिप्सा उद्भूत है!

दूसरा विचार यह है कि सबसे बड़ी सचाई यह नहीं है कि यह दृश्यमान् जगत् यथार्थ है, जड-तत्त्ववादी भी मानता है कि यह जैसा दीख रहा है, वैसा नहीं है। निश्चित रूप से सिर्फ दो बातें सत्य हैं। पहली यह कि कोई जाननेवाला है, देखनेवाला है, अनुभव करनेवाला है; दूसरी यह

कि यह जो ज्ञाता है, उसके कुछ विचार हैं, धारणाएँ हैं, ज्ञान है। ज्ञाता है, ज्ञेय है, परन्तु ज्ञेय की यथार्थता विवाद का विषय है। ज्ञाता की जो धारणाएँ हैं, उसी में ढलकर ज्ञेय प्रतिभात हो रहा है। असल में ज्ञेय (जगत्) के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ज्ञान या 'आइडिया' विवाद का विषय नहीं है। ये लोग अपने को 'आइडियलिस्ट' कहते हैं और हिन्दी में इसी का प्रतिशब्द आदर्शवादी है। दृश्यमान् जगत् हमारी रचना है, हमारी धारणाओं का बण्डल है। इन विचारकों के कई समूह हैं। कुछ ज्ञाता को ही मुख्य मानते हैं; कुछ ज्ञान को ही बहुमान देते हैं; कुछ ज्ञाता और ज्ञान को निरन्तर प्रेरणा देनेवाली एक सत्ता की कल्पना करते हैं और कुछ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में अभिव्यक्त होनेवाले परात्पर अव्यक्त तत्त्व की वकालत करते हैं। परन्तु सबका विश्वास है कि मनुष्य का भाग्य किन्हीं बाह्य तथ्यों पर अवलम्बित नहीं है, बल्कि अपने ही विचारों और धारणाओं के अधीन है। जब मानव-चित्त अपने उल्लास के चरम बिन्दु पर आता है, तब वह इसकी सचाई अनुभव करता है। त्याग, तप, परोपकार, सेवा, पर-दुःखकातरता इसी आदर्शवादी विचारधारा की देन हैं। मनुष्य में ये हैं, और इनके लिए किन्हीं बाह्य कारणों से उत्पन्न कष्ट और व्यथा को वह उपेक्षणीय समझता है। यही इस बात का सबूत है कि विचार या ज्ञान ही वास्तव सत्य है। धार्मिक भावापन्न व्यक्ति आदर्शवादी होता है। वह कहता है कि मनुष्य में ज्ञान की जो दुर्दम लालसा है, अनुसन्धान के लिए जो अक्लान्त यात्रा है, वह वास्तव में अनन्त ज्ञान-रूपा परात्पर शक्ति की लीला-मात्र है। वह लक्ष्यहीन अभिसार-यात्रा नहीं है, किसी अज्ञात चिन्मय की मोहन वंशी की पुकार है, लक्ष्य है, लक्ष्य का इंगित भी है और उसे पाया भी जा सकता है। अज्ञात चिन्मय की यह पुकार संसार का सबसे बड़ा यथार्थ है। वही इस जगत् को विचारों, धारणाओं और अनुभूतियों के माध्यम से रूपायित कर रहा है। ज्ञान, ज्ञाता का ही नामान्तर है।

तीसरा मत उन लोगों का है, जो किसी मानव-निरपेक्ष परात्पर तत्त्व को विशेष बहुमान नहीं देते। हम जो कुछ देख रहे हैं, जो कुछ समझ रहे हैं, जो कुछ अनुभव कर रहे हैं, वह मानव-गृहीत सत्य है। मनुष्य-

निरपेक्ष कोई परात्पर सत्य है या नहीं है यह जानने का कोई उपाय हमारे पास नहीं है। जड़-तत्त्व, जैसा हमको प्रतिभात हो रहा है और बौद्धिक स्तर पर उसकी मूलगामिनी अन्तरालवर्त्तिनी शक्ति का जो रूप हमें दिखायी दे रहा है, सब मानव-गृहीत सत्य हैं। मानव-मस्तिष्क के अभाव में वह वैसा ही दिखेगा या नहीं, कौन जानता है? ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सब मनुष्य की पहुँच के भीतर के सत्य हैं। निरन्तर अनुसन्धान द्वारा सचाई को खोजने की दुर्दम लालसा और इस सारे प्रयत्न-जाल के मूल में इसे प्रेरणा देनेवाली किसी परात्पर शक्ति पर अहेतुक विश्वास—ये सब मानव सत्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ है या नहीं है, यह कहना असम्भव है। जो लोग ऐसा कुछ खोजने या जानने का दावा करते हैं, वे अपनी ही सीमाओं में दौड़ते हैं और आत्मलुब्ध प्रेमी की भाँति अपनी ही तस्वीर पर प्राण निछावर कर रहे हैं। ईश्वर का कोई मनुष्य-निरपेक्ष रूप हो भी, तो हमें नहीं मालूम। ये लोग एक प्रकार के अविश्वासी ही हैं, लेकिन उनका अविश्वास उनके अत्यन्त दृढ़ विश्वास का कवच है, अभिसार भी है, अभिसार-यात्रा भी है, श्रव्यतिकूल वंशी की मोहन ध्वनि भी है; पर सब मनुष्य का भावगृहीत सत्य है; मनुष्य-निरपेक्ष गुणातीत, भावातीत कुछ भी नहीं है। जिसे 'ऐब्सोल्यूट ट्रुथ' कहा जाता है, वह केवल बात की बात है। हो भी, तो हम कुछ उसके बारे में कह नहीं सकते; क्योंकि हमारे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है।

सबार उपर मानुष सत्य ताहार उपर नाइ।

इस प्रसंग में मुझे तैत्तिरीय उपनिषद् की एक कहानी याद आ रही है। बड़ी सुन्दर कहानी है, और बड़े काम की भी।

भृगुवल्ली की कहानी : भृगु ने अपने पिता वरुण से कहा कि 'भगवन्, मैं ब्रह्मज्ञान पाना चाहता हूँ।' पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने आविष्कार किया कि अन्न ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। पुत्र ने दुबारा तप करके पता लगाया कि प्राण ही ब्रह्म है। फिर तप और फिर खोज—मन ही ब्रह्म है। फिर तप, फिर खोज—विज्ञान ही ब्रह्म है। पिता सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर तप। अब की बार पिता ने सन्तुष्ट होकर पुत्र से सुना कि आनन्द ही ब्रह्म है—आनन्द

अर्थात् अध्यात्म-तत्त्व। इस प्रकार अन्न (भौतिक तत्त्व), प्राण-मन-विज्ञान (बुद्धितत्त्व) और आनन्द (अध्यात्म-तत्त्व), ये पाँच ज्ञान के स्तर हैं। उपनिषद् के ऋषि ने बड़े सहज ढंग से इस तत्त्व को समझाया है। यह जो अन्तिम सत्य है, वह परम्परा-समागत धर्मग्रन्थ और रूढ़ आचार-निष्ठा पर विश्वास रखनेवाले श्रद्धालु को मान्य नहीं होता; क्योंकि अनुभव करनेवाले की अनुभूति-शक्ति का क्या ठिकाना ? इस प्रकार अनु-सन्धान का मार्ग ग्रहण करनेवाला जिस स्थान पर सन्देह का सागर पार कर विश्वास-परायण बन जाता है, वहीं विश्वास के रास्ते चलनेवाला सन्देहवादी बन जाता है। वह अनुभव के मार्ग को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है और आप्त वाक्यों पर अधिक निर्भर हो जाता है। परन्तु दोनों के मध्य में कोई मार्ग होना चाहिए। मुझे लगता है कि सन्त लोग जिसे 'अनभै साच' पन्थ कहते हैं, उसमें इस समस्या का समाधान है। मैं धीरे-धीरे उसी की ओर अग्रसर हो रहा हूँ।

पर-तत्त्व क्या है ? : पर-तत्त्व, जो जड़ और चेतन के रूप में अभि-व्यक्त होता आ रहा है, यही योगियों का शिव-तत्त्व है और वेदान्तियों का ब्रह्म है। किस प्रकार यह निर्गुण, निःस्पन्द, सच्चिदानन्द स्वरूप पर-तत्त्व एक तरफ अनेक जड़ पदार्थों में अभिव्यक्त हो रहा है और दूसरी तरफ समस्त स्थावर जंगमात्मक प्राणिजगत् में अभिव्यक्त हो रहा है, यही वास्तविक प्रश्न है। यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, पर चलता नहीं, साँस नहीं लेता, सोचता नहीं, समझता नहीं, बोलता नहीं, बल्कि निश्चेष्ट निः-स्पन्द होकर वर्त्तमान है—केवल 'है'-मात्र है—वह जड़ भी उसी परतत्त्व का अभिव्यक्त स्थूल ठोस रूप है और यह जो कुछ साँस ले रहा है, हिल रहा है, चल रहा है, बढ़ रहा है, कर रहा है, सोच रहा है और समझ रहा है—जो है भी और जी भी रहा है—जो 'चेतन' है—वह भी उसी पर-तत्त्व की अपेक्षाकृत सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। पहला केवल 'सत्' रूप है, और दूसरा 'सत्' रूप भी और 'चित्' रूप भी। पर-तत्त्व सत् रूप भी है, चित्-रूप भी है और साथ-ही-साथ उसका एक और भी रूप है और उसी रूप के लिए यह सम्पूर्ण सत्ता है, और सम्पूर्ण चेतना है। वह उसका आनन्द-रूप है। उपनिषदों में कहा है कि आनन्द से ही भूत-मात्र की उत्पत्ति होती है।

आनन्द से ही वे निकलते हैं और आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं। जब तक कुछ रस न मिले, तब तक कोई कुछ काम करने में प्रवृत्त भी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी में वह सच्चिदानन्द विद्यमान है; इसीलिए प्रत्येक कुछ-न-कुछ रचना करने में आनन्द पाता है, रस पाता है। जहाँ कहीं भी निर्मल आनन्द है, वहीं सच्चिदानन्द अपने शुद्ध रूप में उल्लसित हो उठता है। स्पष्ट ही, सृष्टि रचना में भी उसे, 'रस' मिलता है; क्योंकि वह स्वयं 'रस' रूप है।

सर्जनेच्छा : अब यह बात बिल्कुल ही समझ में नहीं आनेवाली है कि जो निश्चेष्ट है, निर्गुण है, वह सृष्टि कैसे करता है और क्यों करता है। क्या उसे कोई अभाव है? ऋषियों ने कहा है, उसे अकेले अच्छा नहीं लगता—'स एकाकी नाऽरमत'। इसलिए उसके मन में इच्छा हुई कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ—'एकोऽहं बहुस्याम्'। क्यों उसके मन में इच्छा हुई, कौन बतायेगा? प्रसादजी ने इच्छा को 'अभाव की चपल बालिका' कहा है। परन्तु जिसे कोई अभाव नहीं, जो केवल भावरूप ही है, उसके चित्त में यह प्रथम इच्छा, प्रथम सिसृक्षा कैसे हुई, यह बड़ा कठिन प्रश्न है; परन्तु हुई अवश्य। मैंने आरम्भ में ही बताया है कि आधुनिक विचारक भी सारे रास्तों से चलकर मनुष्य की इस इच्छा-शक्ति की विजय-गाथा को स्वीकार करते हैं। यह पर-तत्त्व की अपर-तत्त्व में बदलने के लिए जो व्याकुलता है, जो अपने को द्विधा करके रमण करने की लालसा है, वही समस्त सृष्टि के मूल में है। उसे सिसृक्षा कहिए, माया कहिए, शक्ति कहिए—नाम में क्या रखा है; वह उसके स्वभाव में है। स्वभाव अर्थात् अपना होना, अपनी सत्ता। निश्चय ही यह शक्ति उसके स्वभाव में ही है।

सृष्टि का स्फुरण : नाथ योगियों का कहना है कि इस परम शिव को जब सृष्टि करने की इच्छा होती है, तब इच्छायुक्त होने के कारण उन्हें सगुण शिव कहा जाता है। वेदान्ती लोग उसे 'अपरं ब्रह्म' कहेंगे। पहले बताया जा चुका है कि यह इच्छा ही शक्ति है। अब इस अवस्था में परम शिव से एक ही साथ दो तत्त्व उत्पन्न होते हैं—शिव और शक्ति। वस्तुतः इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यह शक्ति पाँच अवस्थाओं से

गुजरती हुई स्फुरित होती है—(1) परम शिव की अवस्था—मात्र धर्म से युक्त, स्फुरित होने की पूर्ववर्त्ती, और प्रायः स्फुरित होने की उत्क्रान्त अवस्था का नाम 'निजा' है। इस अवस्था में शिव अपने अव्यक्त रूप में रहते हुए भी स्फुरणोन्मुखी शरीर से विशिष्ट होकर रहा करते हैं। शिव की इस अवस्था का नाम 'अपरं ब्रह्म' है। धीरे-धीरे शक्ति क्रमशः (2) स्फुरण की ओर उन्मुख होती है, फिर (3) स्पन्दित होती है, फिर (4) सूक्ष्म अहंता (मैं-पन अर्थात् अलगाव का भाव) से युक्त होती है, और अन्त में (5) चेतनशीला होकर अपने अलगाव के बारे में पूर्ण सचेत हो जाती है। ये अवस्थाएँ क्रमशः परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डली कही जाती हैं। इन अवस्थाओं में शिव भी क्रमशः परम, शून्य, निरंजन और परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्त्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में प्रकट होते हैं और शक्ति भी पाँच अवस्थाओं से अग्रसर होती हुई द्वितीय तत्त्व कुण्डली या कुण्डलिनी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। यही कुण्डली समस्त विश्व में व्याप्त शक्ति है। इसी की इच्छा से, इसी की सहायता से, शिव इस विश्व-प्रपंच की उत्पत्ति, पालन और विलय में समर्थ होते हैं। यही परमात्मा और कुण्डली—शिव और शक्ति—प्रथम दो सूक्ष्मतम तत्त्व हैं। इनसे ही अत्यन्त सूक्ष्म 'परपिण्ड' की उत्पत्ति हुई है।

सीमा और असीम : मैं समझता हूँ, आप कुछ-कुछ ऊबने लगे हैं। सोचते होंगे, यह कैसा थका देनेवाला लेखा-जोखा है; मगर यह अनुभवगम्य धर्म है। नाथ-पन्थी लोग इसे स्वसंवेद्य ज्ञान कहते हैं। हर विचारशील व्यक्ति इसको स्वयं समझ सकता है। इससे भी अधिक जटिल सृष्टि प्रक्रिया आप योग और तन्त्र-ग्रन्थों में पायेंगे। कई बार ऐसा भी लगेगा कि वे एक-दूसरे के विरोधी हैं। परन्तु यदि आप थोड़ा विचार करेंगे, तो मालूम होगा कि साधारण जीवन में अनुभूत तथ्यों का ही सूक्ष्म विवेचन है। यहाँ दो तत्त्वों को समझाया गया है। एक असीम में परिव्याप्त बन्धनच्छेदी तत्त्व है, दूसरा सीमा में सिमटनेवाला बन्धन-रूप। विशुद्ध गति की कल्पना कीजिए। यदि ग्रह-मण्डल में कोई ग्रह विशुद्ध वेग से छूट सकता, तो सरल रेखा में बढ़ा चला जाता; परन्तु उस पर नियन्त्रण

है। वह एक ही साथ अबाध गति के साथ भी जुड़ा है और फिर सीमा के बन्धन से भी नियन्त्रित हो रहा है। नियन्त्रण का रूप कुण्डलित है। एक से अनेक होने की इच्छा सीमा को सूचित करती है; इसलिए उसका नाम कुण्डली दिया गया है। यदि इस बात की ओर आपकी दृष्टि न हो, तो कोई और नाम भी दे सकते हैं। कुण्डली रूप है, तत्त्व का याथार्थ्य नहीं। उसके एक गुण को—जो निस्सन्देह उसका प्रधान गुण है—यह नाम दे दिया गया है। फिर किस प्रकार बीज अंकुर के रूप में बदलता है, इस बात को सोचते जाइए। प्रत्येक प्रक्रिया का कुछ नाम है। आप चाहें, तो और भी कई प्रकार की प्रक्रियाओं को सोच सकते हैं। चाहें, तो जो ऊपर बताया गया है, उसे भी कम करके सोच सकते हैं। तन्त्र-शास्त्र में प्रत्येक प्रक्रिया का दैवी रूप में उल्लेख है। आगे चलकर आपको उसका थोड़ा-सा परिचय मिलेगा। मेरी प्रार्थना है कि आप इस जटिलतर विधान के वर्णन से ऊबने न लगें। सोचने पर यह बहुत कठिन नहीं जान पड़ेगा, कम-से-कम मेरा तो यही विश्वास है।

शिव और जगत् : यह स्पष्ट है कि शिव ही अपनी सिसृक्षा-रूपा शक्ति के कारण इस जगत् के रूप में बदल गये हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है, वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ बना है, जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। सबमें वही तत्त्व ज्यों-के-त्यों हैं। परंतु सत्त्व, रज, तम, काल और जीव (अर्थात् प्राण-शक्ति) की अधिकता और न्यूनता के कारण उनमें भेद प्रतीत हो रहा है। विकास की इन विभिन्न अवस्थाओं को असत्य नहीं समझना चाहिए। वे सभी सत्य हैं। जितनी नाड़ियाँ या द्वार या आधार मनुष्य में हैं, और निरन्तर विकास-प्रक्रिया के जारी रहने पर हो सकने की सम्भावनाएँ हैं; उतनी ही समस्त ब्रह्माण्ड में और उतनी ही ब्रह्माण्ड के समस्त परमाणु में हैं। भेद यही है कि सत्त्व, रज, तम, काल और जीव के आधिक्य और न्यूनत्ववश वे कहीं अविकसित हैं, कहीं अर्द्धविकसित हैं, कहीं पूर्ण विकसित हैं। इसीलिए गोरक्ष मत में प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सभी पिण्ड में है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड एक है : पिण्ड मानो ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण

है। गोरक्षनाथ का योग-मार्ग साधना-मूलक है। मनुष्य-शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गयी है और बताया गया है कि मनुष्य के किस-किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन-सा अंश है—पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है, साधना-मार्ग के तीर्थ कहाँ हैं, गन्धर्व, यक्ष, उरग, किन्नर, भूत, पिशाच आदि के स्थान कहाँ हैं। चौरंगीनाथ की एक छोटी-सी पुस्तक 'प्राणसंकली' पायी गयी है। इसमें विस्तारपूर्वक समझाया गया है कि मनुष्य-शरीर के कौन-कौन-से अंग ब्रह्माण्ड की किन-किन वस्तुओं के समशील हैं। इस प्रकार की और भी अनेक रचनाएँ हैं। सबमें समान भाव से दिखाया गया है कि ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु मानव-शरीर में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है; तफसील में अन्तर मिलेगा। एक ही बात को कोई पर्वत कहेगा, तो कोई द्वीप। इस पर न जाइए। इसका सिर्फ यही मतलब है कि ब्रह्माण्ड ही पिण्ड में सिमट गया है। मनुष्य-शरीर में वह सबसे अधिक स्पष्ट है। परन्तु यह तथ्य प्रत्येक अणु-परमाणु में है। केवल विभिन्न गुणों और काल तथा जीव-शक्ति की मात्रा में अल्पता और अधिकता होने के कारण उनमें विभेद दिखायी देता है। मनुष्य-शरीर अधिक विकसित और श्रेष्ठ होने के कारण समस्त जटिलताओं को कुछ-कुछ बता देता है। परन्तु तथ्य यही है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वही पिण्ड में भी है—'ब्रह्माण्डेऽप्यस्ति यत्किंचित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा'। यह बहुत बड़ा सिद्धान्त है। सन्तों ने भी इसे मान लिया है—सिद्धान्त रूप में। कबीरदास ने कहा है—'यह घट भीतर सात समुन्दर, याही में नौलख तारा।' खैर।

शिव और शक्ति : शाक्त लोग शक्ति को ही जगत्-कर्त्री के रूप में स्वीकार करते हैं। यह किसी खास पक्ष पर बल देने के कारण हुआ है। सभी दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। जो लोग नहीं मानते, वे भी किसी एक पक्ष पर ही बल देते हैं। कहते हैं, कर्तृत्व जो शिव का है, शक्ति तो उसकी निर्वाहिका-मात्र है। उसी को प्रधान कर्त्री और उपास्य क्यों माना जाय ? जगत् के मुख्य कर्त्ता और नियन्ता तो शिव हुए, शक्ति तो उनकी सहायिका-भर है; फिर इस सहायिका को उपास्य क्यों माना जाय ? इस प्रकार के तर्क में इतना तो स्वीकार ही कर लिया गया है कि सृष्टि

की जो प्रक्रिया बतायी जा रही है, वह उन्हें मान्य है। केवल बल देने का प्रश्न है। रामेश्वर भट्ट ने 'परशुराम कल्पसूत्र' की टीका (6।1) में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। उसका सार-मर्म यह है कि क्षिति, जल, आदि कार्यों का कोई-न-कोई कारण होना चाहिए; कारण के बिना ये उत्पन्न नहीं हो सकते। इस अनुपपत्ति को दूर करने के लिए ही शिव और शक्ति की कल्पना है। वेदान्ती लोग भी ब्रह्म की एक शक्ति स्वीकार करते हैं। चित्स्वरूप ब्रह्म का धर्म भी चित्स्वरूप ही होना उचित है। वेदान्ती लोग ऐसा न मानकर गलती करते हैं। वे चिद्रूप ब्रह्म की शक्ति माया को 'जड़-स्वभावा' मानते हैं। वे लोग कहते हैं कि यही माया जगत् का उपादान है, इसलिए यह समूचा जगत् जड़ है। शक्ति-आगमों में यह बात नहीं मानी गयी। न मानने का कारण बहुत संगत है।

धर्म और धर्मी का स्वभाव-भेद नहीं हो सकता : शाक्त लोग मानते हैं, और उनका विश्वास है कि उनकी इस मान्यता में किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि धर्मी और धर्म में अभेद होता है, इसलिए चेतन ब्रह्म की शक्ति भी चेतन होगी। ब्रह्म धर्मी है, शक्ति उसका धर्म। फिर भी व्यवहार में धर्मी और धर्म में भेद मानना ही पड़ता है। तात्त्विक दृष्टि से वेदान्तियों के 'परं ब्रह्म' और शाक्त साधकों के 'पर-शिव' में कोई अन्तर नहीं है। शिव धर्मी है, शक्ति धर्म। जिस प्रकार धर्मी चन्द्र और धर्म चन्द्रिका में तात्त्विक अन्तर नहीं है, दोनों एक हैं, उसी प्रकार शिव और शक्ति भी अभिन्न हैं—'अन्तरं नैव जानीमः चन्द्र-चन्द्रिक-योरिव'। परन्तु धर्मी शिव, और धर्म शक्ति, अभिन्न होने पर भी व्यवहारानुरोध से भिन्नवत् मान लिये जाते हैं। शिव (पर-शिव) रूपातीत, गुणातीत, शून्यरूप, निरालम्ब-स्वभाव हैं, इसीलिए उनका स्वरूप निर्धारण अशक्य है। उपासना के लिए यह 'पर-शिव' उपयुक्त नहीं है। उनके स्वरूप से अभिन्न और फिर भी भिन्न-रूपा शक्ति ही उपास्य हो सकती है। इस उपासना के द्वारा परम शिव के साथ शक्ति का (और इसीलिए समस्त जगत् प्रपंच का) अभेद ज्ञान ही साधक का चरम लक्ष्य है।

लेकिन शक्ति-साधकों के इस मत को सन्तों ने ज्यों-का-त्यों नहीं माना। कबीरदास के भजनों से इतना तो पता चल जाता है कि वे 'रघु-

नाथ की माया' को चेतन तत्त्व मानते हैं और शिव और विष्णु को शक्ति के रूप में भी स्वीकार करते हैं; किन्तु सब मिलाकर वे इसे मति भ्रष्ट करनेवाली विकृत-रूपा शक्ति ही स्वीकार करते हैं। क्यों ऐसा हुआ है, इस पर विचार यहाँ नहीं करेंगे। प्रसंग आयेगा और हम इस पर सोचने-विचारने का अवसर भी पायेंगे।

लक्ष्य : शिव शक्ति का सामरस्य : स्पष्ट है कि प्रत्येक पिण्ड में प्रत्येक अणु-परमाणु में, वह शक्ति विद्यमान है। जगत् का प्रत्येक प्राणी उसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान के रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग-रग में परिव्याप्त यह शक्ति मानव-देह में कुण्डलिनी के रूप में स्थित है। नाथ-मार्गी साधक इस शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड अर्थात् काया को ही मानता है। वैसे तो सभी प्राणी और अप्राणी शक्ति के आवास हैं, किन्तु केवल शक्ति का संचालन ही लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य-रूप सहज समाधि। समस्त प्राणियों में सर्वाधिक सत्त्वगुणी मनुष्य है। मनुष्य का शरीर योग-सिद्धि का उत्तम साधन है। परन्तु इसको पाने-मात्र से योग-सिद्धि नहीं होती। गोरक्ष-नाथ ने कहा है कि जो योग-सिद्धि का अभिलाषी यही नहीं जानता कि उसके शरीर में छः चक्र क्या और कहाँ हैं, षोडश आधार कौन-कौन हैं, दो लक्ष्य क्या हैं, पाँच व्योम क्या वस्तु हैं, वह कैसे सिद्धि पा सकता है। फिर एक खम्भेवाले, नौ दरवाजोंवाले और पाँच मालिकों के द्वारा अधिकृत इस शरीर-रूपी घर को जो नहीं जानता, उससे योग की सिद्धि की क्या आशा हो सकती है? इसको जाने बिना मोक्ष कहाँ मिल सकता है! इसलिए इस मानव-शरीर को तो जानना ही होगा। मनष्य का यह शरीर ही समस्त सिद्धियों का आश्रय है।

मानव शरीर को महत्त्व देने का यह एक रूप है। किन्तु केवल शरीर ही नहीं, मनुष्य की वाणी, उसका प्राण, उसका मन, उसका बिन्दु—सब अपार अनन्त शक्ति के आश्रय हैं। किसी की भी साधना से परम प्राप्तव्य की प्राप्ति हो सकती है।

मानव-देह का महत्त्व : इसका दूसरा रूप भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि मध्यकाल में भारतीय साधना

के साहित्य ने यह स्वीकार कर लिया था कि परम तत्त्व की जो परा-शक्ति है, वह जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, उसी प्रकार पिण्ड में भी व्याप्त है। इस सृष्टि के अणु-परमाणु में परा-शक्ति व्याप्त है। मनष्य-देह में वह सबसे अधिक जाग्रत है, अन्य योनियों में कम जाग्रत है या एकदम सुप्त है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में त्रिपुटीभूता यह शक्ति ही 'त्रिपुरा' कहलाती है। देवताओं के भीतर भी वह पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं है; क्योंकि देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप हैं। वे भोग-योनि में हैं, उन्हें सिर्फ भोगने की शक्ति है। वे जिस कार्य के लिए उदृष्टि हैं, उससे अधिक या कम की उनमें इच्छा भी नहीं होती, क्रिया भी नहीं होती। अग्नि जला सकती है, उसमें अन्य प्रकार के कार्य—जैसे भिगो सकने—की इच्छा भी नहीं होती, क्रिया तो होगी ही कहाँ से। इसीलिए कभी-कभी ग्रन्थों में यह कहा जाता है किदेवताओं के कुण्डलिनी नहीं होती। नहीं होती का अर्थ है पूर्ण स्फुरित नहीं होती, सुप्त रहती है। केवल मनुष्य की इच्छा, क्रिया और ज्ञान की त्रिधारा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त है। इसीलिए परात्पर पुरुष को भी जब कुछ करना होता है, तब उसे नर-देह धारण करनी पड़ती है। देह तो वह और भी धारण कर ले सकता है, पर नर-देह में उसका पूर्णावतार होता है। बिना नर-देह धारण किये परात्पर देवता भी कोई लीला नहीं कर सकते। उन्हें जब-जब धर्म की हानि से जगत् की रक्षा करनी होती है, अभि-मानवती आसुरी शक्ति का उच्छेद करना होता है, तब-तब नर-देह धारण करनी पड़ती है :

जब-जब होइ धरमकै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब-तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। नासहिं असुर हरहिं भवपीरा॥

मानव-देह की महिमा की यह दूसरी महत्त्वपूर्ण परिणति है। इन दो विचारों ने मध्ययुग के उत्तरकालीन साहित्य को अपूर्व महिमा से मण्डित किया है। आगे हम इस क्षेत्र में अपने भक्ति-साहित्य की अद्भुत देन का कुछ परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

शब्द-साधना

'साधो सबद साधना कीजे'

मनुष्य का यह पिण्ड अनेक शक्तियों का आश्रय है। वाक्, मन, प्राण, शुक्र और कुण्डलिनी-जैसे चंचल, किन्तु शक्तिशाली तत्त्वों का आश्रय होने के कारण यह अन्य समस्त ज्ञात-पिण्डों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। चपल घोड़े पर सवारी करना बड़े जोखिम का काम है। जो सधा हुआ सवार है, वह उस चपल अश्व से अपना लक्ष्य सिद्ध करता है; जो अनाड़ी है, वह गिरकर चकनाचूर हो जाता है। घोड़ों को खेलाना और उनकी सहायता से बड़ी-बड़ी लड़ाइयों को जीतना कुशल साधक का काम है। योगी इन्हीं चपल तत्त्वों से मैदान मारता है, अपने चरमलक्ष्य तक पहुँचता है और सदा इन पर संयम की लगाम लगाये रहता है। जिसे साधन-मार्ग नहीं मालूम, वह इन्हीं चपलों के चक्कर में पड़कर पतित हो जाता है। बौद्ध-साधिका लक्ष्मीकरा ने कहा था कि यह मनुष्य-रूपी जन्तु जिन बातों से बँधता है, उन्हीं से मुक्ति भी पाता है—'...येनैव बध्यते जन्तुस्तेनैव हि विच्युते'। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में मन को बहुत ही दुर्निग्रह और चंचल बताकर कहा है कि इसे अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में किया जा सकता है। जो बात मन के बारे में सत्य है, वही अन्य चपल तत्त्वों के बारे में भी ठीक है। यहाँ हम शब्द-साधना पर विचार करेंगे। यह वाक् इन्द्रिय का विषय है। आपात दृष्टि से शब्द बाहर की वस्तु है, उसे ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय 'वाक्' भीतर स्थित है, पर यह आपात दृष्टि ही है।

कबीरदास और निर्गुण-सम्प्रदाय के अन्य सन्तों की रचनाओं में शब्द-साधना पर इतना अधिक लिखा गया है कि केवल साधारण पाठक ही नहीं, विज्ञ जन भी ऊब जाते हैं। यह 'शब्द की डोर' और 'सुरति की सेज' या रज्जु कुछ इस प्रकार से और इतने प्रकार से स्मरण की गयी है कि नीरस ही नहीं, निरर्थक कथनी के रूप में ग्रहण की जाने लगी है। एक बार उसकी अनमिल और अटपटी बातें पढ़कर मैं एक जमाने में सोचता

था कि यह अनपढ़ गँवार लोगों की बेमतलब की बातें हैं। अब मेरे विचार बदल गये हैं। यह तो मैं दावा नहीं करता कि मैं सब अटपटी बातों का अर्थ निश्चित रूप से समझने में समर्थ हो गया हूँ; परन्तु इतना अनुभव करने लगा हूँ कि समझ में न आना अपनी कम जानकारी का फल अधिक है, बेतुकी अनमिल बात होने का कम। बात यह है कि सन्तों के पहले नाथ और शाक्त-साधकों में मन्त्र, जप, योग, समाधि, नाड़ी-विज्ञान, प्राण तत्त्व आदि का बहुत विशाल और गम्भीर साहित्य बन चुका था और बड़ी भारी साधना-परम्परा स्थापित हो चुकी थी। उस परम्परा की यदि ठीक उपलब्धि हो, तो बहुत-सी बातें स्पष्ट हो जायें। दुर्भाग्यवश हमारे देश में इस प्रकार का अध्ययन-प्रयास नहीं के बराबर ही हुआ है। इधर विद्वानों का ध्यान इस ओर गया अवश्य है, परन्तु जितनी मात्रा मे यह साहित्य आलोचित हुआ है, वह थोड़ा ही है। मुझे उसके एक अंश-मात्र का ही परिचय है। परन्तु इतना समझने में कोई भी अड़चन अब नहीं रह गयी है कि सन्तों ने इस साधना-परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण किया है और अपने ढंग से उसे प्रकट किया है। पुरानी परम्परा से थोड़ा परिचय हो जाये, तो सन्तों की विशिष्ट देन भी समझ में आ जायेगी। इसीलिए मुझे थोड़ी भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ेगी। नीरस कथनी से ग्रहण करने के प्रयास में कुछ और नीरस वस्तुओं की चर्चा कर देना मुझे उचित जान पड़ता है।

शब्द-साधना की प्राचीनता : कभी-कभी ईसाई विद्वानों ने यह बताने का यत्न किया है कि शब्द-साधना का मूल सिद्धान्त सन्त कवियों ने, विशेषकर कबीर ने, अप्रत्यक्ष भाव से ईसाई-साधना से ग्रहण किया है। सुप्रसिद्ध विद्वान ग्रियर्सन तक ने एक बार इस तरह की बात कही थी। यद्यपि संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित डॉ. ए. बी. कीथ ने बता दिया था कि शब्द-साधना ईसाइयों की अपनी विशेषता नहीं है, उसका अस्तित्व वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है और ग्रीस आदि देशों में ईसा मसीह के बहुत पूर्व शब्द-साधना सिद्धान्त रूप में गृहीत हो चुकी थी, तथापि कुछ विद्वान अब भी ऐसा विश्वास पोषण करते हैं कि शब्द-साधना का कुछ-न-कुछ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ईसाई साधना से अवश्य है।

वस्तुतः 'शब्द' का समस्त शक्तियों का आश्रय होना बहुत प्राचीन काल में 'सुमेरियन' और 'बेबीलोनियन' धर्म-सम्प्रदायों में प्रचलित था। इस पुराने इतिहास को कुछ लोग ईसा मसीह के कई हजार वर्ष पूर्व ले जाना चाहते हैं। वस्तुतः सुमेरियन और बेबीलोनियन सभ्यताओं के अध्ययन के लिए सामग्री प्राप्त हुई है, उसमें से अधिकांश अब भी ऊहापोह का ही विषय है; परन्तु इतना बहुत-कुछ निर्विवाद है कि अनेक वैदिक ऋषियों की भाँति सुमेरियन और बेबीलोनियन ऋषि भी यह मानते थे कि सृष्टि का मूल तत्त्व जल था। वैदिक ऋषि जब कहता है कि 'आपो वा इदम-ग्रमासीत्' तब वह बहुत-कुछ सुमेरियन और बेबीलोनियन सन्तों के ही समान अपना विश्वास प्रकट करता है। इस प्रकार ईसा मसीह से हजारों वर्ष पहले सुमेरियन और बेबीलोनियन सभ्यताओं में सृष्टि का मूल तत्त्व जल स्वीकार किया गया था। सुमेरियन अवशेषों से जान पड़ता है कि वे लोग विश्वास करते थे कि जल की भी बीज-शक्ति ('इनिम') या शब्द है। जो लोग आदिम मनुष्यों की मनोवृत्ति के आधार पर धार्मिक और दार्शनिक विश्वासों का मूल खोजने का प्रयत्न करते हैं, वे स्वीकार करते हैं कि प्राचीन सुमेरियन सभ्यता में 'मुम्मु' (उच्च ध्वनि) शब्द मेघ-गर्जन का वाचक है और वह जल के अधिष्ठातृ देवता की शक्ति ही अधिष्ठातृ देवता की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार जल के भीतर भी शब्द-शक्ति काम करती है। शब्द ही जल के भीतर वह बीज-शक्ति है, जो समस्त जगत् को रूपायित कर रही है। 'उद्' शब्द, जो मूलतः सुमेरियन सभ्यता में साँस और तेज हवा का वाचक था, जल के अधिष्ठातृ देवता के साथ जुड़कर उसका वाचक हो गया था। संस्कृत में 'उद्' शब्द जल का ही वाचक है। अत्यन्त प्राचीन काल से इस शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में होता आया है। अंग्रेजी के 'वाटर' शब्द में भी इस 'उद्' शब्द का अव-शेष बताया जाता है। लैटिन का 'उन्द' गाथिक में 'वत्-ओ' हो जाता है, हाई जर्मन में 'वाजर' हो जाता है और आधुनिक अंग्रेजी में 'वाटर' हो जाता है। बहने के अर्थ में 'उन्दात्' प्रयोग ऋग्वेद में पाया जाता है, जो लैटिन 'उन्द' के निकट है। इस प्रकार जल के अर्थ में 'उद्' या 'उन्द' का प्रयोग संसार-भर में फैला हुआ है। सेमेटिक भाषाओं का 'मुम्मु' शब्द,

जो आवाज का वाचक था, धीरे-धीरे ग्रीक इतिहास-लेखकों की भाषा में जल-देवता (अप्त्सू) और तियामत (सामुद्रिक जल की देवी) के पुत्र-रूप में स्वीकार किया गया और जल-देवता के साथ उसको घुला दिया गया। इस प्रकार जल से सृष्टि उत्पन्न करने के मूल सिद्धान्त को और उसकी बीज-शक्ति 'शब्द' को बहुत दीर्घकाल से दूर-दूर तक माना जाता रहा है। शब्द जल की चित् शक्ति है, उसकी बुद्धि है, जो समस्त दृश्य जगत् की सृष्टि करती है। ग्रीक लेखकों ने लेखन-कला के देवता 'नेबो', जो 'एंकी' का पुत्र था, को 'मुम्मु' माना है। इसी प्रकार बेबीलोनियन पुरोहितों के हाथ पड़कर 'मुर्दुक' भी 'एंकी' का पुत्र और 'मुम्मु' का प्रति-रूप मान लिया गया। सुमेरियन और बेबीलोनियन विश्वास का जो कुछ पता चला है, उसके अनुसार किसी वस्तु की सत्ता उसके 'रूप' पर निर्भर है। रूप दैवी मानसी-धारणा का मानव-जाति के रूप में प्रत्यक्षीकरण है अर्थात् 'रूप' 'शब्द' का ही प्रत्यक्ष विग्रह है। उदाहरण के लिए 'घट' शब्द घट-रूप को प्रकट करता है, जो दैवी मानसी धारणा है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो कुछ ज्ञान है, वह अभिव्यक्ति है और जो कुछ सत्ता है, वह इन्द्रिय ग्राह्य सत्य नहीं, बल्कि मानसी धारणा है। जब तक यह दैवी धारणा किसी देवचित्त में आविर्भूत नहीं होती, तब तक वस्तु प्रत्यक्ष रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित नहीं हो सकती। मूलतः समस्त जड़-चेतन वस्तुएँ जल-देवता की मानसी धारणा-मात्र हैं और उन्हीं की मानसिक क्रियाओं से वे प्रत्यक्ष होती हैं। इसीलिए 'मुम्मु' या शब्द विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त मानसी धारणा यानी चित्-शक्ति का प्रतीक है बेबीलोनिया में प्रचलित धार्मिक विश्वास का यही स्वरूप है।

यवन (ग्रीक) दार्शनिकों ने बहुत-सी बातें अपने पूर्ववर्त्ती बेबीलोनियन ऋषियों से ग्रहण कीं। ग्रीक दार्शनिक 'थेल्स' ने इसी सिद्धान्त के आधार पर जल को सृष्टि का मूल तत्त्व स्वीकार किया था, ऐसा माना जाने लगा है। थेल्स और उनके बाद के दार्शनिक 'एनक्सिमेण्डर' और 'एनेक्सिमेनस' आदि ने बेबीलोनियन विश्वासों को तर्कसम्मत दर्शन का रूप दिया और माना कि सृष्टि का सार तत्त्व चित्-शक्ति ही है। मेरे लिए यह कहना कठिन है कि यह बात कहाँ तक विश्वास योग्य है; परन्तु

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन् ईस्वी से बहुत पूर्व ग्रीस में 'शब्द' की सृष्टि का मूल हेतु स्वीकार किया गया था। 'पार्टिजर' ने भारतीय पुराणों के अध्ययन से अनुमान किया था कि भारतीय आर्यों का सम्पर्क सन् ईस्वी से सैकड़ों वर्ष पूर्व असीरिया आदि पश्चिमी देशों से हो चुका था। सृष्टि के मूल तत्त्व-विषयक वैदिक ऋषियों की धारणाएँ वहाँ निश्चय ही पहुँच चुकी होंगी। ज्ञान की वर्त्तमान अवस्था में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि शब्द-तत्त्व-विषयक सिद्धान्त बहुत प्राचीन काल से संसार के बहुत बड़े भाग में व्यापक रूप से विद्यमान था। वैदिक साहित्य में इसका सर्वाधिक निखरा हुआ और साधनात्मक रूप प्राप्त होता है। वस्तुतः शब्द का मूल तत्त्व स्वीकार किये बिना 'मुम्मु' सम्बन्धी सारा विश्वास अन्ध-विश्वास के समान दिखायी देगा। भारतीय सन्तों के अध्ययन के लिए इस देश की परम्पराओं में ही प्रचुर सामग्री विद्यमान है। हजारों वर्ष से शब्द-साधना का अत्यन्त परिष्कृत, युक्तिसम्मत और दार्शनिक रूप उपलब्ध होता है। इसकी तुलना में अन्यान्य देशों में प्राप्त प्राचीन सामग्री खण्डित और विवादग्रस्त है। बहुत थोड़ी सामग्रियों के आधार पर विद्वानों ने अटकल से काम लिया है। देखा जाय, भारतीय दृष्टि से शब्द-साधना का क्या अर्थ हो सकता है।

शब्द-साधना, मन्त्र-तत्त्व, नाम-जप और अजपा-जप परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। 'शब्द' या 'नाद' शब्द का क्या अर्थ है, मन्त्र और देवता किस अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, परमार्थतः मन्त्र और नाम में क्या सम्बन्ध है, इत्यादि प्रश्न सन्त-साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए जानने योग्य हैं। फिर तो मन्त्र की इस विशाल और जटिल साधना को सन्तों ने किस प्रकार सहज-साधना में रूपान्तरित किया है, यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायेगी। इस-लिए मन्त्र तत्त्व से ही अपनी बात शुरू करूँगा। इस तत्त्व के स्पष्ट होने पर 'सुरति' और 'लौ' की बात समझने की कोशिश की जायेगी। प्रसिद्ध कबीर पन्थी सन्त रामसिंह साहब ने कहा है कि वस्तुतः निरति, सुरति और शब्द कहने-भर के लिए तीन हैं, अन्ततोगत्वा सब एक में ही विलीन हो जाते हैं :

सब्द सुरति औ निरति ये कहिबे को हैं तीन।
निरति समानी सुरति में सुरति सब्द में लीन॥

स्पष्ट ही 'शब्द' मुख्य और अन्तिम बात है। तो फिर इसी को पहले समझा जाय।

वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्द : शब्द दो प्रकार के होते हैं, वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। ध्वन्यात्मक शब्द दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न होता है, और ऐसा आहत या चोट खाकर पैदा हुआ शब्द यदि वर्णों या अक्षरों में सुस्पष्ट उच्चरित और समन्वित न हो, तो किसी अर्थ को नहीं व्यक्त कर सकता। जो शब्द आहत ध्वनि नहीं है, अनाहत है, वह ब्रह्मरूप कहा गया है; क्योंकि वह शाश्वत है। सन्तों की बोली में वही अनहद-नाद है। अनहद यद्यपि अनाहत शब्द का ही अपभ्रंश है, तथापि सन्तों की भाषा में इसमें एक और भी अर्थ जोड़ दिया गया है। अनहद अर्थात् जो सीमा से परे है, जो देश और काल की सीमा के अतीत है। आहत ध्वनि क्षण-स्थायी होती है, हदों में बँधी रहती है। किन्तु अनहद नाद अनाहत तो है ही, सीमातीत भी है। अनहद हद से परे है। सन्तों ने इस प्रकार अनेक शब्दों में नये अर्थ भरे हैं। 'मरजिया' वह है, जो मरकर जीता है, प्राणों की बाजी लगाकर समुद्र में गोता लगाता है और मोती निकाल लाता है। साधक यदि मरजिया हो, तो भी उसे सिद्धि मिल सकती है। किन्तु मध्य-काल के सन्तों ने मर्जी या कृपा शब्द के सहारे इसमें नया अर्थ भी जोड़ा हैं। मरजिया ही साधक होता है—प्राणों की बाजी लगाकर कठोर साधना करने से और गुरु की या परमेश्वर की मर्जी या अनुग्रह प्राप्त करके। इस तरह सन्तों के अर्थ-दान के दर्जनों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अनभै : हमने 'अनभै साँच पन्थ' की चर्चा पहले की है। 'अनभै' अर्थात् अनुभव। अनुभवैकगम्य मार्ग को 'अनभै पन्थ' कहते हैं। परन्तु कबीर ने और उनके अनुयायियों ने इसमें एक और अर्थ जोड़ा है—अनभै अर्थात् भयरहित। जिस मार्ग में विचरण करनेवाले को भय नहीं रहता। इस प्रकार जो अनुभवैकगम्य मार्ग है, उसमें भय या आशंका नहीं रहती। पुराने अनुभव शब्द में इस प्रकार निर्भय या निराशंक भाव को जोड़ दिया गया है। केवल अनुभव में ही नहीं, छुट्टा 'भव' शब्द को भी 'भै' बनाकर उसमें भी 'भव' अर्थात् जन्म-मरण-धर्मा संसार और भय अर्थात् मानसिक विचार-रूपी शत्रुओं की आशंका और उससे

स्खलन-पतन की आशंका का भाव जोड़ दिया गया है। इस प्रकार मामूली-सा 'भैं' शब्द व्यापक अर्थों का प्रकाशक बन गया है :

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु वाह्या एक।
लागत ही "भैं" मिलि गया, पड्या कलेजे छेक॥

अस्तु।

सुच्छम वेद : अब अनुभवगम्य मार्ग वस्तुत: वही है, जिसे नाथ-पन्थी लोग स्वसंवेद्य ज्ञान कहते हैं। स्वसंवेद्य ज्ञान अर्थात् जिसे साधक स्वयं अनुभव कर लेता है। यह परसंवेद्य ज्ञान से उल्टा है। परसंवेद्य वह है, जो कि किसी अन्य व्यक्ति के कहने के आधार पर मान लिया गया हो। सन्तों के पास आते-आते स्वसंवेद्य शब्द 'सुसंवेद' के रूप में बदल गया था। वस्तुत: नाथ-पन्थी हिन्दी-रचनाओं में 'सुसंवेद' शब्द आ गया था। किस प्रकार सुसंवेद 'सुच्छंवेद' बना, और कैसे 'सुच्छंवेद' 'सूक्ष्मवेद' बन गया, यह अर्थ-विकास शास्त्र के विद्यार्थी के लिए कुतूहल और मनोरंजन का विषय होगा। यहाँ हम उस प्रपंच में नहीं जायेंगे; परन्तु इतना कहना प्रासंगिक है कि सुच्छम या सूक्ष्मवेद कबीरदास की पारख वाणी है; वही टकसार वाणी या प्रामाणिक वाणी है—टकसार अर्थात् टकसाली। इस सुच्छम वेद के सामने पुराने वेद स्थूल हैं। इसीलिए ब्रह्मा के बनाये वेदों को इन मौला लोगों ने स्थूल वेद करार दिया। जब सुच्छम है, तब स्थूल भी होना ही चाहिए। इस प्रकार इन निरक्षर सन्तों में अर्थदान की अद्-भुत शक्ति है। ऐसे दर्जनों उदाहरण दिये जा सकते हैं। सुरति है, निरति है, निरंजन है, सहज सुन्न है, रवसम है और भी अनेक हैं। हमने अपने 'कबीर' नामक ग्रन्थ में कुछ शब्दों की चर्चा की है। अभी तो अनहद की चर्चा के हद में ही महदूद रहना अच्छा है। अस्तु। कबीर ने शब्द का माहात्म्य समझाते हुए कहा है :

सब्दै काया जग उतपानी, सब्दै केरि पसारा।
कहै कबीर जहँ सब्द होत है, भवन भेद है न्यारा॥

वर्णात्मक शब्द : अब, जो वर्णात्मक शब्द है, वह वाक्य, पद और अक्षर-भेद से तीन प्रकार का होता है। निरर्थक तो यह भी हो सकता है; लेकिन समझ-बूझकर यदि बोला जाय, तो इसका अर्थ होता है।

मीमांसकों के मत से शब्द अनादि है, अनन्त है, शाश्वत है। नैयायिक ऐसा नहीं मानते। लेकिन उनकी बात अभी छोड़िए। वर्णात्मक शब्द भी एक प्रकार की आहत ध्वनि ही है। जिह्वा, तालु, इत्यादि का जब आघात होता है, तब यह उत्पन्न होता है। किन्तु वर्णात्मक शब्द के पीछे मन की कोई विचारधारा होती है। ध्वनि पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। उच्चारित होने के बाद वह ध्वनि उसी प्रकार प्रकट होती है, जिस प्रकार दीपक जला देने पर अन्धकार से भरा घर प्रकाशित होता है। दीपक उस घर के दिख जाने का कारण अवश्य है; पर इसका मतलब यह नहीं हुआ कि दीपक न होता, तो घर भी न होता और दीपक के बुझ जाने पर घर भी बुझ जायेगा। दीपक का होना-न-होना घर की सत्ता का नियमन नहीं करता।

स्थूल शब्द और सूक्ष्म शब्द : जिस प्रकार मनुष्य का शरीर सकारण है और उसमें स्थूल और सूक्ष्म भेद होते हैं, उसी प्रकार शब्द के भी स्थूल और सूक्ष्म भेद होते हैं। शास्त्रकारों ने शब्द की चार अवस्थाएँ या भाव बताये हैं, जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहलाते हैं। महाविन्दु के विस्फोट के पहले 'परा' नाम की अवस्था होती है। मूलाधार में कुण्डलिनी में यह शब्द वर्त्तमान रहता है; जब यह गतिशील होता है, तब उसमें ऐसा स्पन्दन होता है, जो किसी विशेष अर्थ का सूचक नहीं है, केवल स्पन्दन मात्र है। उस 'सामान्य स्पन्द' को पश्यन्ती कहते हैं; इसका स्थान मूलाधार से मणिपुर चक्र तक है। यहीं इसका मन से संयोग होता है। ये दोनों अवस्थाएँ शब्द-ब्रह्म के ईश्वर-रूप की अवस्थाएँ हैं। पुराने वैयाकरण परा-वाक् की चर्चा नहीं करते; क्योंकि उसमें स्पन्द या गति नहीं है। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि वैयाकरणों के मत से शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती का रूप ही आत्मतत्त्व है: 'शब्द ब्रह्ममयं पश्यन्ती रूपमात्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः' ('प्रत्यभिज्ञा,' पृष्ठ 43)। अभिनव गुप्त ने भी कहा है : 'ननु पश्यन्त्येव परं तत्त्वमिति जरद्वैयाकरणा मन्यते' ('प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी,' द्वितीय भाग, पृ. 191)— 'जरद् वैयाकरण' अर्थात् पुराने वैयाकरण। सम्भवतः भर्तृहरि ने 'काव्य-

निःस्पन्द भाव परा-वाक्

सामान्य स्पन्दमयी पश्यन्ती

प्रदीप' (1.144) में जो त्रयी वाक् के लिए पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी की बात कही थी, वही अभिनव गुप्त के मन में थी।

कुण्डलिनी : इस प्रसंग में कुण्डलिनी और चक्रों की जो चर्चा आयी है, उससे सम्भवतः आप परिचित हैं। मैंने पहले बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार शिव की आदिसिसृक्षा क्रमशः स्फुरण की पाँच अवस्थाओं से गुजरती हुई कुण्डली या कुण्डलिनी रूप में व्यक्त हुई है। यह शक्ति समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड को रूपायित कर रही है। जो कुछ दिख रहा है, वह उसी महाशक्ति की स्फुरणा का परिणाम है। वह एक ओर जहाँ समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड में व्यापत है, वहीं प्रत्येक पिण्ड में भी व्याप्त है। प्रथम रूप में वह महाकुण्डलिनी कहलाती है और दूसरे रूप में कुण्डलिनी। सो, यह कुण्डलिनी उस शक्ति का नाम है, जो प्रत्येक पिण्ड में वर्त्तमान है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मानव-शरीर में पायु और उपस्थ के बीच में जो एक त्रिकोण चक्र है, जिसमें एक स्वयम्भू लिंग है, उसे साढ़े तीन वलयों में वेष्टित करके कुण्डलिनी अधोमुख स्थित है। नाना साधनाओं से साधक जब उसे उद्‌बुद्ध या जाग्रत करता है, तब वह मेरुदण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्ना नामक नाड़ी के मार्ग से ऊपर को उठती है और कमल के आकार के छः चक्रों को भेदन करती हुई सातवें सहस्रार चक्र में मिलित होती है। इस मिलन को 'समरसीकरण' या सामरस्य कहते हैं। जिन छः कमलाकार चक्रों को कुण्डलिनी भेद करती है, वे भिन्न-भिन्न आकार के हैं। आगे इन चक्रों की स्थिति को मैंने विस्तारपूर्वक समझाने की कोशिश की है। यहाँ इतना-भर याद रखने से काम चल जायेगा कि इन चक्रों के दलों की सम्मिलित संख्या पचास है और प्रत्येक दल पर संस्कृत वर्णमाला के एक-एक अक्षर की कल्पना की गयी है।

कुण्डलिनी : सूक्ष्म शक्ति : परवर्त्ती काल के निर्गुणमार्गी सन्तों ने तो इन चक्रों की खूब चर्चा की है, परन्तु मूलतः यह शाक्त और नाथपन्थी सन्तों की कल्पना है। कबीरदास ने तो स्पष्ट रूप से कुण्डलिनी का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु इतना निश्चित है कि उन्हें इस तत्त्व से पूर्ण परिचय था। माया को उन्होंने कभी-कभी नागिन कहा है, जो कुण्डलिनी को सर्पिणी कहने के समान है। वस्तुतः कबीरदास की और अन्य निर्गुणमार्गी

सन्तों का शब्द-साधना को समझने के लिए शाक्त और शैव साधकों के मन्त्रतत्त्व की जानकारी बहुत सहायक है। शाक्त साधकों की भाषा में जो स्वयम्भू लिंग, सर्पिणी, कमल इत्यादि इन्द्रियग्राह्य पदार्थों की चर्चा है, उनके स्थूल अर्थों पर नहीं जाना चाहिए। यहाँ शक्ति के विभिन्न रूपों को इस प्रकार इन्द्रियग्राह्य रूप में उपस्थित किया गया है, जिससे साधारण बद्ध-बुद्धि का मनुष्य उसको सहज ही ग्रहण कर सके। परन्तु शाक्त साधकों ने बार-बार सावधान किया है कि वस्तुतः ये बातें सूक्ष्म शक्ति-संचालन की ही स्थूल अभिव्यक्ति हैं।

अब इस सूक्ष्म विधान को समझने के लिए उन स्थूल रूप में अभिव्यक्त तत्त्वों की चर्चा करना आवश्यक है। यद्यपि यह बड़ा जटिल और थका देनेवाला विधान है, तो भी इसकी चर्चा करनी ही पड़ेगी। इससे मन्त्र-तत्त्व, नाम-तत्त्व और शब्द-साधना का स्वरूप समझ में आयेगा और यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि सन्त-साधकों ने कितने जटिल विधान को सहज भाव से हृदयंगम किया है और उसे समझाने का प्रयत्न किया है।

वाक् का रहस्य : अर्थग्रहण में मन के दो धर्म : मन्त्र और नाम को समझने के लिए फिर हम वाक् के रहस्य की ओर लौटते हैं। मध्यमा वाणी और उसका अर्थ, दोनों सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म या लिंग शरीर से सम्बद्ध हैं। किसी अर्थ के ग्रहण करने में मन दो काम करता है। उसका एक अंश तो सूक्ष्म शब्द के साथ एकाकार होता है और दूसरा अंश बाह्य वस्तु के रूप में आकार ग्रहण करता है। यही सूक्ष्म अर्थ है। इस प्रकार सूक्ष्म शब्द और सूक्ष्म अर्थ मन के ही दो प्रतिरूप हैं। और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जाय, तो सूक्ष्म शब्द और सूक्ष्म अर्थ, ग्राहक और गाह्य रूप में मन की ही अभिव्यक्ति हैं। सूक्ष्म शब्द ग्राहक और सूक्ष्म अर्थ ग्राह्य है। दोनों ही सूक्ष्म शरीर के अधीन हैं।[1]

1. **लिंग शरीर :** सांख्यवादी पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। पुरुष विशुद्ध चेतन-स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से पच्चीस तत्त्व उत्पन्न हुए और यह पंचविंशति जगत् तत्त्वात्मक जगत् दृष्टिगोचर →

मध्यमा : शब्द और अर्थ : सृष्टि के आदि में मध्यमा शब्द ही प्रकट होता है। उस समय उसका कोई बाह्य अर्थ नहीं होता। मध्यमा शब्द वह मानसिक गति है, जो किसी वस्तु की धारणा बनाती है और मध्यमा अर्थ स्थूल बाह्य वस्तु की मानसिक छाप है। इस प्रकार मध्यमा शब्द और मध्यमा अर्थ, ज्ञाता और ज्ञेय या ग्राहक और ग्राह्य रूप में सूक्ष्म शरीर के विषय हैं।

पश्यन्ती वाणी : इनका कारण वह एश्यन्ती वाणी है, जो सामान्य स्पन्द के रूप में उठकर विशिष्ट अर्थ के प्रकटीकरण के लिए प्रवृत्त होती है। वह सामान्य स्पन्दरूपा पश्यन्ती वाणी निःस्पन्द अर्थात् गतिहीन परा-वाणी से उत्पन्न होती है। इस प्रकार स्थूल वैखरी वाणी के पूर्व सूक्ष्म-रूपा मध्यमा वाणी और उसकी हेतुभूता पश्यन्ती वाणी है, जो बाहर

→ होता है। पच्चीस तत्त्वों को सांख्यवादी लोग चार मोटे विभागों में बाँट लेते हैं—(1) प्रकृति, (2) प्रकृति-विकृति, (3) विकृति, और (4) न-प्रकृति-न-विकृति। चौथा तो पुरुष है, जो न प्रकृति ही है और न विकृति ही। बाकी तीन में प्रकृति तो अनादि ही है। प्रकृति से महान् या बुद्धि-तत्त्व उत्पन्न होता है, उससे अहंकार और उससे पाँच 'तन्मात्र' (शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूप-तन्मात्र, गन्धतन्मात्र', रसतन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो 'महान्' या बुद्धि-तत्त्व मूल प्रकृति का विकार है और दूसरी तरफ अहंकार की प्रकृति भी। इसी प्रकार अहंकार और पंचतन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः महान् और अहंकार के विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंचतन्मात्र और पंचमहाभूतादिकों की प्रकृति भी हैं। यही कारण है कि सांख्यशास्त्री इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। इस तरह महान्, अहंकार और पंचतन्मात्र के सात प्रकृति-विकृति हुए। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय (कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक) और पाँच कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, जीभ, पायु, उपस्थ) हैं। इन दस इन्द्रियों, मन और पाँच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को विकृति कहते हैं। इन्हीं पच्चीस तत्त्वों से सारी सृष्टि बनी है। किन्तु वेदान्ती लोग प्रकृति और उसके विकार स्वरूप 23 पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि वस्तुतः एक परब्रह्म ही सत्ता है। हम अज्ञानवश इस नाम-रूपात्मक जगत् को वास्तविक समझने लगे हैं।

उपनिषदों में कहा गया है कि मृत्यु के समय आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी जाता है। बृहदारण्यक में बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान,

→

दिखायी नहीं देती। इस प्रकार मन्त्र का वह स्थूल रूप, जो अक्षरात्मक है, शब्द का स्थूल और मूर्त्त रूप है, जो वैखरी वाणी द्वारा प्रकट होता है। उसका सूक्ष्म रूप मध्यमा वाणी का विषय है। सूक्ष्म शरीर में मध्यमा वाणी स्वप्न अवस्था के समान है और परा-वाणी सुषुप्ति अवस्था के समान। इसीलिए पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी को क्रमशः सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्था कहते हैं।

सूक्ष्म शब्द क्या है ? : मानसिक अवस्था का जो सूक्ष्म अर्थ है, वह एक प्रकार का संस्कार या छाप है। जब मनुष्य जाग्रत अवस्था में जाता है, तब वह सुषुप्ति अवस्था के बाद की (जो एक अस्थायी विस्मृति कीअवस्था है) उन छापों या संस्कारों के सहारे पुरानी बातों को स्मरण करता है। इन संस्कारों का कारण क्या है ? क्योंकि संस्कार जब कार्य है, तब उसका कारण होना ही चाहिए। इसका कारण है शब्द या नाम। घट शब्द के उच्चारण से एक प्रकार का अर्थ, जो जगत् में घट पदार्थ है, उसका चित्र सामने आ जाता है। हिरण्यगर्भ अवस्था में शब्द, संस्कार के रूप में, मानस-मूर्त्तियों का निर्माण करता है, इसीलिए सारा जगत् शब्द और अर्थ—नाम और रूप—है।

चक्र-अक्षर का सूक्ष्म रूप : पहले ही कहा गया है कि शाक्त और

→मन, प्राण, श्रोत, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अति तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सबकुछ लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है (बृहदारण्यक 4, 4, 5)। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा के साथ-साथ बुद्धि, मन, प्राण और समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्र-गण बँधे होते हैं। सांख्यकारिका में करीब-करीब इन सब बातों को एक शब्द में लिंग शरीर कहा गया है (सांख्यकारिका 40)। बताया गया है कि प्रकृति के विकार-स्वरूप तेईस तत्त्वों में अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, बाकी अठारहों तत्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तब तक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे होते हैं।

इस लिंग शरीर में जिन अठारह तत्वों का समावेश है, उनमें बुद्धि-तत्व ही प्रधान है। वेदान्ती लोग जिसे कर्म कहते हैं, सांख्यवादी उसी को बुद्धि का 'व्यापार', 'धर्म' या 'विकार' कहते है। इसी को सांख्यकारिका में 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूल में गन्ध और कपड़े में रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग शरीर में लगा रहता है (सांख्यकारिका 40)।

नाथ-साधकों ने बताया है कि छः कमल के आकार के चक्र हैं, जिनको भेद करके कुण्डलिनी सातवें चक्र सहस्रार में पहुंचती है। इन छः चक्रों के पचास दल हैं और प्रत्येक पर संस्कृत वर्णमाला का एक-एक अक्षर है। अक्षर स्थूल नहीं हो सकते; क्योंकि वैखरी वाणी में जो स्थूल अक्षर उच्चारित होते हैं, वे कण्ठ-तालवादि के स्पर्श से स्फुट होते हैं। इसलिए चक्रों के अक्षर स्थूल-अक्षर नहीं हो सकते; वे सूक्ष्म-अक्षर हैं। शाक्त और नाथ-योगियों की भाषा में इन सूक्ष्म-अक्षरों को मातृका कहते हैं।

चित्-शक्ति ही परा-वाक् : जो चित्-शक्ति है, वह स्वरूपतः निःस्पन्द है और पर-शब्द या परा-वाक् से अभिन्न है। जब वह गतिशील होती है, तब पहले सामान्य स्पन्द के रूप में और फिर विशेष स्पन्द के रूप में और अन्त में स्पष्टतः उच्चरित शब्द के रूप में क्रमशः स्पष्ट होती जाती है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहकर वस्तुतः यही कहा जाता है कि आरम्भ में चित्-स्वरूप निःस्पन्द शक्ति पहले सामान्य स्पन्द के रूप में, फिर विशेष स्पन्द के रूप में और अन्त में स्थूल स्पष्ट शब्द के रूप में प्रकट होती है, अर्थात् चित् या चैतन्य शक्ति के रूप में आन्दोलित होकर शब्द और अर्थ के रूप में व्यक्त होती है। शब्द का यह व्यष्टि रूप है। समष्टि रूप में वह पहले से ही वर्त्तमान रहता है। यह शब्द और उसके द्वारा गृहीत सूक्ष्म अर्थ सर्जनशील समष्टि-चित् में प्रतिफलित होकर व्यक्तिगत अनुभवों की छाप या संस्कार का हेतु बनता है। इस प्रकार जो स्थूल-अक्षर हम लोग नित्य बोला करते हैं, वह सूक्ष्म वर्ण या मातृका से उद्भूत होता है। इसलिए मातृका को बीजरूपा कहा जाता है। यदि सूक्ष्म वर्ण अन्तर के चक्रों में विन्यस्त किये गये हों, तो ठीक ही है; परन्तु यह बात फिर भी विचारणीय रह जाती है कि तत्तद्दलों पर तत्तद् अक्षरों का ही विन्यास क्यों दिया गया है। जैसे मूलाधार में, जो सबसे नीचे है, जिसमें चार दल हैं, संस्कृत वर्णमाला के व्यंजनों के आखिरी चार अक्षर ('ह' को छोड़कर) अर्थात् व, श, ष, स विन्यस्त हैं। इसका क्या अर्थ है ? एक-एक अक्षर को एक-एक कमल-दल पर विन्यस्त करने का कारण तो समझ में आता है; किन्तु विशेष-विशेष दलों पर विशेष-विशेष अक्षरों के रखने

मातृका

का क्या अर्थ है ? फिर इन चक्रों के बीज और वाहन हैं, उसका भी क्या अर्थ हो सकता है ? यदि हम इस विधान को विस्तारपूर्वक जाँचें, तो निस्सन्देह प्रत्येक बात का एक सुनिश्चित कारण मिल जायेगा। परन्तु कठिनाई यह है कि सारा विधान जटिल दार्शनिक और साधनात्मक प्रक्रियाओं का उलझा हुआ रूप है। इसलिए हम बहुत ब्यौरेवार विवरणों में नहीं जायेंगे। यथासम्भव संक्षेप में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। कई जगह मुझे स्वयं यह विधान दुर्बोध लगा है। मैंने यथासम्भव इस विषय के प्रामाणिक विद्वानों, जैसे आर्थर एवलेन, सतीशचन्द्र विद्याभूषण आदि की सहायता ली है। तो, अब यह समझने का प्रयत्न किया जाय कि इन साधकों के मन में अक्षर-विन्यास का क्या उद्देश्य था; अर्थात् इस बात पर विचार किया जाय कि विभिन्न आकार के चक्रों के कमल-दलों पर विशेष-विशेष अक्षर ही क्यों रखे गये।

मुझे भय हो रहा है कि आपको मैं पारिभाषिक शब्दों के मरु-कान्तार में भटकाने का अपराध कर रहा हूँ। मेरी धारणा है कि बड़ी बात तो सीधे ही समझायी जा सकती है। यह जो इतना आडम्बर है, वह निश्चय ही इसलिए नहीं है कि सीधी बात अधिक उलझा दी जाय। सो, सीधी बात यह है कि शब्द या नाद जो मनुष्य के भीतर अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, वह जब स्थूल रूप में प्रकट होता है, तब पद और पदार्थ के रूप में अलग-अलग हो जाता है। 'घट' एक पद है; इसका अर्थ घड़ा नामक वस्तु है; पद का अर्थ होने के कारण ही वह पदार्थ है। पदार्थ अर्थात् पद का अर्थ। लेकिन यदि बाहर प्रकट न करके आप 'घट' शब्द का मन-ही-मन चिन्तन करें, तो 'घट' पद और 'घट' पदार्थ की अलग-अलग प्रतीति तो होगी, लेकिन वहाँ 'पद' और 'पदार्थ' अलग-अलग विद्यमान नहीं होंगे, एकमेक होंगे। और भी भीतर पद और पदार्थ होंगे तो अवश्य, पर उनकी अलग प्रतीति भी नहीं होगी। और, और गहराई में वह पद विशुद्ध निःस्पन्द गतिहीन 'शब्द' मात्र ही होगा। बात इतनी-सी ही है। ओष्ठ, दन्त, कण्ठ, तालु आदि से उच्चरित शब्द और उनके अर्थ स्थूल हैं। 'दस घड़े' का जो स्थूल अर्थ है, उसको रखने के लिए बहुत स्थान चाहिए। लेकिन मन-ही-मन अगर दस घड़ों की बात सोचें,

तो स्थान की कमी की कोई आशंका नहीं होगी; क्योंकि वहाँ अर्थ स्थूल न होकर सूक्ष्म रहेगा। वह केवल रहेगा; लेकिन स्थान नहीं घेरेगा। मन्त्र और कुछ नहीं, मनःसंयोग है। केवल मुख से कहे शब्दों में मन का संयोग कम ही रहता है। कभी-कभी तो एकदम नहीं रहता। पर गहराई में अन्तस्तल की गुहा में केवल 'अर्थ' रहता है। वह 'होता है', इसलिए उसे 'भाव' कहा जाता है। मूलाधार से लेकर कण्ठ तक जो चक्रों की कल्पना है, उसी में ये शब्द के स्फुट अक्षर निवास करते हैं। अगर वे वहाँ न होते, तो वह आप-ही-आप मन में नहीं आ जाते। हम लोग जिस भाषा में सोचते हैं, उसमें कुल पचास ध्वनियाँ मानी गयी हैं; इसलिए इन पचासों का स्थान मन में अवश्य है। जिस भाषा में चालीस ध्वनियाँ होंगी, उसके बोलनेवाले के मन में चालीस अक्षर होंगे। जिसकी भाषा में सौ ध्वनियाँ होंगी, उसके मन में सौ अक्षर होंगे। भारतीय साधक पचास ध्वनियों में ही सोचते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि से 6 कमलों के पचास दल हैं। चीनी साधक इसी रास्ते सोचता, तो कदाचित् बहुत अधिक दलों की कल्पना करता। सो, सारे प्रपंच का सीधा अर्थ यह है कि हमारी भाषा में जो अक्षर हैं, वे केवल मुँह से ही नहीं निकलते, मन में भी रहते हैं। और, और भी गहराई में वे अव्यक्त होकर रहते हैं। यह बात बहुत अधिक सोचने की अपेक्षा नहीं रखती। इसका ब्यौरा देते समय शास्त्रकार को पारिभाषिक शब्द बनाने ही पड़ेंगे, नहीं तो कुछ अधिक गहराई में जाना सम्भव न हो सकेगा। इस लाचारी के कारण ही शास्त्रकार पारिभाषिक शब्दों का जाल तैयार करता है। वह जान-बूझकर श्रोता को उलझाने के उद्देश्य से ऐसा नहीं करता है।

अब थोड़ा और सोचा जाय। कण्ठ के नीचे जहाँ हम मन-ही-मन सोचते हैं, सब अक्षर, सब शब्द और सब शब्दों के अर्थ हैं, यह तो समझ में आ जाता है। अब, यदि बार-बार हमें इसी बात को कहने की जरूरत पड़े, तो क्या हम बार-बार लम्बे-लम्बे वाक्य बोलेंगे? इन लम्बे वाक्यों का जो अर्थ है, उसका एक नाम दे देना ही उचित होगा। 'मध्यमा' वाक् वही नाम है। अब, मध्यमा में जब सभी अर्थ हैं, तब फिर यह शून्यवत् प्रतीयमान आकाश, निरन्तर प्रकाश-रश्मियों में कम्पमान तेज, चंचल-

चारियों में बहमान वायु, तरल प्रवाह में ढरकनेवाला जल और ठोस आधार देनेवाली धरित्री भी उसमें है। ये भी तो अर्थ ही हैं। किसी-न-किसी पद के अर्थ होने के कारण ही तो ये पदार्थ हैं और पाँच तत्त्वों से बाहर पदार्थ रह ही कहाँ जाते हैं? देवता से दानव तक कौन ऐसा है, जो पद या शब्द का अर्थ न हो? कौन ऐसा है, जो शब्द की पकड़ से निकल जाय? रूप, रंग, स्पर्श सब इस शब्द की 'लेज' या रज्जु में बँधे हैं। यदि आप सोचते हैं और समझते हैं कि मन में सब अक्षर हैं, उनसे बने सब शब्द हैं, उन शब्दों से बँधे हुए सब अर्थ हैं और फिर कल्पना करते हैं कि 6 चक्रों में ये अक्षर बैठा दिये जायें, तो आपको अर्थों की भी बात समझनी होगी, पाँचों तत्त्वों का सन्निवेश करना होगा; देवता, दानव, डाकिनी जो कुछ भी आपने सोचा है, सबका स्थान निश्चित करना होगा। हमारे देश के साधकों ने सचमुच ऐसा किया है, इनका विन्यास बहुत सोच-समझकर बड़े अभिनिवेश के बाद किया है। सब बताने का मेरा इरादा नहीं है, मगर इतना तो बता ही देना चाहता हूँ कि षट्चक्रमें केवल अक्षरों के विन्यास की कल्पना-मात्र से काम नहीं चलेगा। अगर ये अक्षर कुछ अर्थ बताते हैं, कुछ विषय के निर्देश करते हैं, कुछ शक्तियों को अभिव्यक्त करने के माध्यम हैं, तो फिर चक्रों में इन बातों का विधान करना नितान्त युक्ति-युक्त है। यही कारण है कि तन्त्र-ग्रन्थों में इन सब बातों का विचार किया गया है। आप उनके विस्तृत ब्यौरे को अगर श्रद्धापूर्वक समझने का प्रयत्न करेंगे, तो लगेगा कि वह कितना सुचिन्तित, व्यवस्थित और युक्तियुक्त है। इसीलिए थोड़ी शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग आवश्यक होगा।

बीज का उदाहरण : इस प्रकार प्रत्येक चक्र में अलग-अलग तत्त्व और उनके बीज-मन्त्र होते हैं। ये वस्तुतः तत्त्वों के बीज हैं; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि तत्त्व बीजों से उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि जो बीज-मातृका स्थूल रूप में उच्चरित होती है, उसके सूक्ष्म रूप को जो शक्ति उत्पन्न और चालित करती है, वही उन तत्त्वों का हेतु है। उदाहरण के लिए, मणिपूर चक्र का तत्त्व अग्नि है और बीज-मन्त्र 'रं'। इसका अर्थ यह हुआ कि अग्नि जिन शक्तियों का सम्मिलित बाह्य रूप है, उन्हीं शक्तियों से जो सूक्ष्म शब्द

बनता है, उसी का स्थूल अर्थात् वैखरी शब्द-रूप यह 'रं' अक्षर है। जो व्यक्ति मानसिक रूप से और कण्ठ-तालवादि के स्पर्श से स्थूल रूप में किसी वस्तु के वास्तविक नाम का उच्चारण करता है, वह नामी को भी अस्तित्व में ले आता है। शर्त यह है कि उच्चारण के समय रचनात्मक शक्ति का संयोग अवश्य होना चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि केवल 'रं' अक्षर के उच्चारण-मात्र से मन्त्र का कार्य नहीं होता; केवल उच्चारण जीभ और ओठों का संचालन-मात्र है। इसीलिए मन्त्र को प्रबुद्ध होना चाहिए। मन्त्रशास्त्रियों की भाषा में इसे 'मन्त्र-चैतन्य' कहते हैं। इस मन्त्र-चैतन्य के प्राप्त होने से ही साधक मन्त्र को क्रियाशील बना सकता है। इस प्रकार 'रं' नामक वैखरी शब्द, ध्वनि के सहारे उस चित्शक्ति का स्थूलकाय है, जो मन्त्र-साधक को अग्नि को वश में कर लेने की शक्ति देता है। इस प्रकार वह रचनात्मक विचार, जो वक्ता द्वारा उच्चारित स्थूल-अक्षरों के मूल में होता है, मनुष्य को नाना सिद्धियों से समृद्ध बनाता है। शाक्त साधकों के अनुसार इस समूची सृष्टि के मूल में भी निर्माता अर्थात् ईश्वर का शब्द था। जिस प्रकार विशाल ब्रह्माण्ड में शब्द, कोटि-कोटि शब्द, शक्तियों के रूप में उद्बुद्ध हो रहा है, उसी प्रकार स्थूल छोटे पिण्ड में भी प्रकट हो रहा है। जो साधक शब्द के सूक्ष्म रूप के साथ इस विश्व-व्यापी रूप की चेतना ले आता है, वही मन्त्र को क्रियाशील बना सकता है। ईश्वर अर्थात् अपर शिव की यह रचनात्मक शक्ति ही समस्त विचारों का उत्स है। प्रत्येक व्यक्ति शिव रूप है और जितनी मात्रा में वह इस बात का अनुभव कर सकता है, उतनी मात्रा में वह शिव की शक्ति को भी प्राप्त कर लेता है। विभिन्न देवता शिव की विभिन्न शक्तियों के ही रूप हैं। मन्त्र के द्वारा इन देवताओं को उद्बुद्ध किया जा सकता है।

नाम से नामी

शक्ति ही मन्त्र-चैतन्य है

मन्त्र और देवता : मन्त्र और देवता वस्तुतः शब्द और अर्थ या नाम और नामी हैं। मन्त्र और देवता शब्द और अर्थ के मिलित रूप हैं।[1] जप

1. देखियहि रूप नाम आधीना।
   रूप ग्यान नहिं नामबिहीना॥ →

के द्वारा देवता को जगाया जा सकता है। जप को शाक्त साधकों ने उस क्रिया के समान माना है, जो शयान व्यक्ति को जाग्रत करने में होती है। जप में जो मन्त्र उच्चरित होता है या जिस देवता के नाम का जप किया जाता है, वह उस देवता का ही वाचक होता है। इस प्रकार नाम शब्द है और देवता अर्थ। कहते हैं कि अधरोष्ठ शक्ति है और उत्तरोष्ठ शिव; और दोनों के संघर्ष से ही मन्त्र-देवता की उत्पत्ति होती है। इसीलिए कहीं-कहीं देवता को साधक का पुत्र कहा गया है।

उत्पादित देवता : यह उत्पादित देवता 'पर' देवता अर्थात् देवता का नित्य शुद्ध-बुद्ध रूप नहीं है, बल्कि साधक द्वारा उत्पादित और साधक के हितार्थ विनियुक्त और कार्य सम्पन्न करके पुनः तिरोभूत हो जाने-वाला व्यक्तिगत देवतामात्र है।

परम साधना : यदि कोई साधक सूर्य देवता को मन्त्र द्वारा उत्पन्न करे, तो इसका मतलब सिर्फ यही है कि उस साधक के लिए तत्काल देवता की शक्ति, रूप ग्रहण करके आती है और प्रार्थित कार्य को सम्पन्न करके महान् सूर्य-शक्ति में विलीन हो जाती है। यह परा शक्ति नहीं है और इसीलिए यह साधना भी परम साधना नहीं है। परम साधना तो वह है, जब कि परम शिव को उद्‌बुद्ध किया जाय। परम शिव तो निःस्पन्द अर्थात् गतिहीन है। उससे सामयिक हित की क्षणभंगुर सहायताएँ नहीं ली जा सकतीं। कहने का मतलब यह कि वस्तुतः साधक का चैतन्य ही मन्त्र देवता के रूप में कार्य करता है और निरन्तर अभ्यास के द्वारा साधक इस चैतन्य को विश्वव्यापी चैतन्य के साथ जितना ही अधिक अभिन्न अनुभव करता है, उतनी ही अधिक सिद्धि प्राप्त होती है। फिर इसका मतलब यह भी हुआ कि सभी मन्त्र मनुष्य के शरीर में चित् रूप में वर्त्तमान हैं। नियमानुसार परिपूर्ण जप के द्वारा संस्कार जाग्रत होते हैं और अर्थ चित् के

→ रूपविशेष नाम बिनु जानें।
करतलगत न परहि पहिचानें॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।
उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥
—रामचरितमानस

सामने प्रकट होता है। इस प्रकार यह भी कह सकते हैं कि मन्त्र जीव के वे संस्कार हैं, जिनके अर्थ उसके चित् में अभिव्यक्त होते हैं और जो उस अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। सब मिलाकर तात्पर्य यह हुआ कि अपने विचारों को केन्द्रित और प्रबुद्ध करो और इच्छा-शक्ति को जाग्रत करो। मन्त्र-जप इसी का शास्त्र और गुरु द्वारा निर्दिष्ट सुगम मार्ग है। भागवत में भी कहा है कि,

जीव के संस्कार : मन्त्र

हृदि रूपं मुखे नामं नैवेद्यमुदरे हरेः ।
पादोदकं च निर्माल्यं मस्तके यस्य सोऽच्युतः ॥

अर्थात् वह व्यक्ति स्वयं अच्युत परमात्मा रूप बन जाता है, जिसके मुख में उनका नाम है और हृदय में रूप है। बिना रूप के नाम का आना विशेष फलप्रद नहीं है।

शब्द-ब्रह्म : शब्द और शब्दार्थ का जो हेतु है, वही शब्द-ब्रह्म है। वह वेदान्तियों के परं ब्रह्म और शाक्तों के परं शिव से अभिन्न है। सूक्ष्म या पर शब्द-ब्रह्म अपनी उस प्रकृति से भिन्न होता है, जो बिन्दुरूपिणी है, अर्थात् जो सृष्टि करने के लिए उद्यतप्राय है। जब इस बिन्दुरूपिणी प्रकृति से शब्द-ब्रह्म का योग होता है, तब निर्विशेष शब्द और अर्थ के सूक्ष्म रूप उत्पन्न होते हैं। इसमें जब क्रिया की अधिकता हो जाती है, तब स्थूल शब्द और स्थूल शब्दार्थ अभिव्यक्त होते हैं। यह जो अव्यक्त रव या शब्द है, उसी को 'नाद-मात्र' कहते हैं। यह सर्जनात्मक प्रक्रिया के भीतर से अग्रसर होता रहता है और व्यक्त शब्द और अर्थ का हेतु बनता है।[1]

अव्यक्त नाद, नाद-मात्र

अर्थात् ब्रह्म जो है, वही व्यापक शब्द-रूप है, जो अखण्ड है, अव्यक्त है और जो नाद-बिन्दु-मय है। अर्थात् जो सृष्ट्युन्मुख परम शिव के प्रथमोल्लास का स्वरूप-भाव है।[2] इस प्रकार दर्शन-शास्त्र में जिसे अव्यक्त परा-चित्-शक्ति कहते हैं और भक्ति-शास्त्र में जिसे 'सगुण ब्रह्म' कहते हैं, इन

1. तेन शब्दार्थरूपविशिष्टस्य शब्दब्रह्मत्वमवभासते ।
2. राघव भट्ट ने 5-12 में लिखा हैकि 'सृष्ट्युन्मुखपरमशिवप्रथमोल्लास मात्रखण्डोऽव्यक्तनादबिंदुमय एवं व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः ।'

दोनों का गतिशील सम्मिलित रूप है। शक्ति ही जब अव्यक्त प्रकृति द्वारा चालित होती है अर्थात् जो निर्गुण और सगुण ब्रह्म का क्रियात्मक रूप है, वही शब्द का वास्तविक रूप है। 'हठयोग प्रदीपिका' में बताया गया है कि जो कुछ नाद रूप में सुनायी देता है, वही शक्ति है क्योंकि वह व्यक्त है; और जो तत्त्व से परे है, निराकार है, आकार-रूप में व्यक्त नहीं हुआ है वह सब शिव है। जहाँ तक आकाश का विस्तार है, जहाँ तक शब्द की प्रवृत्ति है, जो निःशब्द है, उसे श्रुतियों में परब्रह्म परमात्मा कहा गया है।[1]

नाद और बिन्दु : तो, सूक्ष्म शब्द या नाद, पर ब्रह्म की इच्छा का रूप है। बीज ज्ञान का और बिन्दु क्रिया का स्वरूप है। सीधी भाषा में यों समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य हैं और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्य से उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनों के संयोग से विश्व में जो एक विक्षोभ होता है, वही नाद है और उस विक्षोभ का क्रियाशील होना ही बिन्दु है। इस नाद और बिन्दु से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त विशेषताहीन नाद और बिन्दु का ही ग्रहण होना चाहिए। इसी बात को समझाने के लिए इन्हें पर नाद और पर बिन्दु कहा जाता है। कभी-कभी लोग परम नाद और परम बिन्दु भी कह देते हैं। इन्हीं से अपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और बिन्दु उत्पन्न होते हैं, जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया के प्रतीक हैं। अर्थात् अपर नाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर बिन्दु क्रिया है। इन्हीं से त्रिदेव अर्थात् रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तन्त्र का निर्गुण शिव कबीरपन्थ के सत्य पुरुष के बराबर है, सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति आद्या शक्ति है। नाद ही स्वसंवेद्य यानी कबीरदास की वाणियों के निर्मलवेद के समान है और बिन्दु उसकी क्रिया।

1. यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः॥
यावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्त्तते।
निश्शब्दं यत् परब्रह्म स ब्रह्मात्मेति गीयते॥
—हठयोगप्रदीपिका, 4, 101-102

सन्तों के साहित्य में इन सभी प्रपंचों का आभास मिल जाता है। 'राम' का जो जप है, वह केवल मुख से उच्चारित होकर सार्थक नहीं होता। सुमिरन और जप में अन्तर है। सुमिरन नाम के साथ नामी के गुणों का स्मरण भी है। वह सूक्ष्म चिद्रूप की उपलब्धि है। वह मन्त्र-चैतन्य का ही नामान्तर है। सन्तों ने शब्द-तत्त्व के मूल को खूब अच्छी तरह समझा था। उन्होंने परम तत्त्व के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने की सहस्रों अवस्था-विशेषों की कल्पना नहीं की (उसका क्या हिसाब करना, जिसका कोई अन्त नहीं; हिसाब तो उसका करना चाहिए, जिसका हिसाब मिल सके ! फिर मन्त्रों के अनेक बीज और तत्त्वों के चक्कर में वे नहीं पड़े)। परवर्त्ती काल के अनुयायी उनकी माया नहीं काट सके, परन्तु वह दूसरा इतिहास है। क्यों कबीरदास आदि सन्तों की सहजीकृत साधना फिर जटिल रूप धारण करने लगी और क्यों उन साधनाओं में परस्पर-विरोधी तत्त्वों का मिश्रण हुआ, यह अलग से कही जाने योग्य कहानी है। यहाँ प्रकृत यह है कि कबीर आदि महाप्राण साधकों ने मन्त्र-साधना तथा नाम और नामी के मूल भाव को ही पकड़ा था। उन्होंने मन्त्र-चैतन्य को कभी नहीं भुलाया। कहते हैं :

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जनि बीसरे, छीलर देखि अनन्त॥

जिह्वा पर मन्त्र और हृदय में ध्यान। यही मन्त्र को जाग्रत करने की ठीक प्रक्रिया है। नाथ और शाक्त साधकों ने इसी बात पर जोर दिया था। लेकिन अनेक देवताओं और शक्तियों की 'उत्पादिका वाक्' स्वरूप मन्त्रों का उन्होंने बड़ा विकट जाल प्रस्तुत किया, सिद्धियों का तारतम्य निश्चित किया; छोटी सिद्धि के लिए स्थूलतर साध्य को अलग-अलग विस्तार से समझाया। कबीर, नानक, दादू आदि श्रेष्ठ साधकों ने मूल तत्त्व को, मूल शक्ति को, मूल नाम को और मूल उद्देश्य को सामने रखा। अनन्त छीलरों का हिसाब करने के बेकार परिश्रम को उन्होंने अनावश्यक समझा, प्रतिवाद किया, प्रत्याख्यान किया और बार-बार स्मरण दिलाया कि सुमिरन के लक्ष्य अनेक नहीं हैं, एक है। वह एक अगाध अपरम्पार हरि-समुद्र है। संस्कृत वर्णमाला के अनुसार बीज और मन्त्रों की कल्पना

भी कल्पना ही है और एकदेशी तो है ही। वाणी के वैखरी रूप को पकड़कर यदि चलना है, तो उस परा-वाक् तक तो पहुँचो, जिसका ग्राहक और ग्राह्य वह स्वयं है। बीच में कहीं रुको मत, थको मत, उलझो मत। स्थूल वाक् की साधना करते-करते उसी मूल स्रोत तक पहुँचो, जहाँ स्थूल से स्थूलतर रूप में अभिव्यक्त होती हुई वाणी इस वैखरी रूप में प्रकट हुई।

यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र : मन्त्र-चैतन्य के इस सिद्धान्त को यदि हमने ठीक पकड़ लिया, तो बहुत-सी और बातें आसान हो जायेंगी। मन्त्र-साधना-वाले अनेक प्रकार के यन्त्रों की भी साधना करते हैं। अनेक प्रकार की टेढ़ी-सीधी लकीरों के यन्त्र को देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति हैरान होकर सोचता है कि यह क्या ऊल-जलूल प्रयास है। क्या कहीं इन ज्यामितिक आकृतियों की कोई आध्यात्मिक व्याख्या हो सकती है? क्या इन जन्तरों के ताबीज पहनने से कोई सिद्धि मिलती है? मगर जैसे 'छू मन्तर' वाले अधकचरे मन्त्रों ने मन्त्र-तत्त्व को समझने में बाधा खड़ी की है, उसी प्रकार यन्त्रों को भी अविश्वसनीय बना देने में सहायता की है। यन्त्र शब्द का अर्थ है संयमित या केन्द्रित करना। यह भी मन्त्र के समान समझ में आने योग्य बात है।

यन्त्र-मन्त्र की साधना करनेवालों के मूल विश्वास को स्मरण कीजिए। किसी शब्द के अर्थ का यदि ध्यान किया जाय, उसके साथ चैतन्य का सम्पूर्ण योग साध लिया जाय, तो वह अर्थ प्रकट हो जाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न स्थान शक्ति के केन्द्र हैं। अभिलषित सिद्धि के लिए अभिलषित शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। ध्यान के द्वारा अभीष्ट देवता को उत्पादित देवता के रूप में कार्य-सिद्धि के लिए उत्पन्न किया जा सकता है। इन बातों का हम विचार कर चुके हैं। अब शरीर के जिस केन्द्र में स्थित शक्ति को उद्‌बुद्ध करना है, उसका ठीक-ठीक परि-ज्ञान हो, तो ध्यान केन्द्रित करने में सहायता मिलती है। 'यन्त्र' मूल रूप में विभिन्न शक्ति-केन्द्रों के मानचित्र के समान हैं, जो साधक को अभीष्ट शक्ति के उद्‌बुद्ध करने की साधना में सहायता देते हैं। 'यन्त्र' कहने का मतलब ही है मन को संयत करके केन्द्रित करने का प्रयास। इस प्रकार

की केन्द्रित चेतना मन्त्र-सिद्धि में सहायक हो, यह बिल्कुल समझ में आनेवाली बात है। परन्तु जो लोग इस तत्त्ववाद को समझे बिना केवल भोज-पत्र पर बनी लकीरों को ही सबकुछ मान लेते हैं, वे बिस्मिल्ला ही गलत बोल देते हैं। उनकी ओर ध्यान देंगे, तो मूल तत्त्ववाद छूट जायेगा। वस्तुतः यन्त्र भी मन्त्र-चैतन्य का सहायक होकर ही कृतकार्य हो सकता है। यन्त्र और मन्त्र एक ही चैतन्य-जागरण के साधन हैं। 'तन्त्र' का अर्थ है विस्तार। जब शक्ति एक स्थान पर उद्‌बुद्ध हो जाय, तब उसे सम्पूर्ण देह के विभिन्न केन्द्रों में प्रसारित करने की प्रक्रिया ही तन्त्र है।

स्पष्ट है कि यह चैतन्य-संयोग, उसका केन्द्रीकरण और फिर उसे सम्पूर्ण देह में व्याप्त करना ही मूल बात है। सन्त-साधकों ने इस मूल तत्त्व को पकड़ लिया है। यही वह 'हरि-सागर' है, जिसे न भूलने का उपदेश कबीरदास नाना भाव से दे गये हैं। छोटी-छोटी सिद्धियाँ 'छीलर' हैं—क्षुद्र जलाशय। जिसे समुद्र मिल गया है, उसके लिए छिछले ताल-तलैयों का क्या मूल्य है ?

इसी मन्त्र-चैतन्य को सन्त-साधकों ने सुमिरन कहा है। यह नहीं समझना चाहिए कि वे छोटी-मोटी सिद्धियों को भगवान् की अंशगत महिमा मानते ही नहीं। कैसे अस्वीकार किया जा सकता है कि भगवान् की ये विभूतियाँ हैं ही नहीं ? पर उन्हीं को सबकुछ मान लेना वैसा ही है, जैसा प्यास बुझाने के लिए ओस को ही सबकुछ मान लेना। ओस भी जल का ही रूप है, ठीक है; पर प्यास उससे नहीं बुझती :

जिहि हरि जैसा जाँणियाँ, तिनकूँ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लगि धँसै न आभ॥

महात्मा दादूदयाल ने बताया है कि सुमिरन वह है, जिसमें साधक अपने-आपको भूल जाता है और आनन्द के मूल उत्स 'चेतन' को, जो सही अर्थों में गम्भीर गुरु है, पकड़ लेता है। आनन्द-मूल चैतन्य को पकड़ सकना ही सुमिरन है :

साधौ, सुमिरन सो कह्या, जिहि सुमिरण आपा भूल।
दादू गहि गम्भीर गुरु, चेतन आनन्द-मूल॥

सच्चा सुमिरन वह है, जिसमें प्राण, श्वास, सुरति सबका मुख 'राम' की ओर हो जाय। जो-जो बाह्य विषय की ओर ले जानेवाले साधन हैं, वे सब जब अन्तर्मुख हो जाते हैं, तब वह ब्रह्म धाम या शून्य धाम मिलता है, जहाँ साधक को अस्ति-नास्ति की, भाव-अभाव की, है-ना की चेतना ही नहीं रहती। चैतन्य जहाँ मन्त्रार्थ के साथ एकमेक हो जाता है, वहीं ब्रह्म-सुख का निज धाम है :

प्राण कवल मुखि राम कहि, मन पवना मुखि राम।
दादू सुरति मुखि राम कहि, ब्रह्म सुंनि निज ठाम॥

बड़ी ही स्पष्ट और दीप्त भाषा में दादू ने कहा था कि राम नाम ही समस्त मन्त्रों का मन्त्र है। केवल चैतन्य के सम्पर्क के होते ही राम नाम सब मन्त्रों से बढ़कर सिद्ध हो जाता है। उन्होंने और भी कहा था कि यह केवल बात की बात नहीं है, उनका देखा हुआ—अनुभूत—सत्य है :

दादू अविचल मंत्र, अमर मंत्र, अठौ मंत्र,
अभै मंत्र राम मंत्र निज सार॥
सजीवन मंत्र, सबीरज मंत्र, सुन्दर मंत्र,
सिरोमणि मंत्र, निर्मल मंत्र, निराकार।
अलख मंत्र, अकल मंत्र, अगाध मंत्र,
अपार मंत्र, अनंत मंत्रराया।
नूर मंत्र, तेज मंत्र, जोति मंत्र,
प्रकास मंत्र, परम मंत्र, पाया।
उपदेश देख्या (दादू गुरू राया)।

ऐसी महिमा है इस मन्त्रराज की। पर नाम जैसे-तैसे नहीं लेना चाहिए। चैतन्य के साथ मनःसंयोग अत्यन्त आवश्यक है। तभी वह आदि, मध्य और अन्त में एकरस होकर साधक को परम प्राप्तव्य तक पहुँचाता है :

नाँव लिया तब जानिए चेतन मन रहै समाइ।
आदि अन्ति मधि एकरस, कबहूँ भूलि न जाइ॥

सो, मनःसंयोगपूर्वक की गयी शब्द-साधना ही सन्तों की भाषा में 'सुमिरन' है। ऐसे ही सुमिरन से मनुष्य अपने परम प्रेयान् से एकमेक हो रहता है।

हमने ऊपर देखा है कि स्थूल वैखरी वाणी का अर्थ स्थूल जगत् के पदार्थ हैं। सूक्ष्म मध्यमा वाणी के अर्थ मानसिक जगत् के पदार्थ हैं। सूक्ष्म मध्यमा वाणी के अर्थ मानसिक रूप में प्रतिफलित स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म रूप हैं। इस वाणी में मन ही दो रूपों में विभक्त होकर शब्द या उसके अर्थ को या नाम या उसके रूप को ग्रहण करता है। यद्यपि यह सूक्ष्म होता है, तथापि स्पष्ट एवं व्यक्त होता है। वैखरी वाणी के शब्द और अर्थ की अपेक्षा इसके शब्द और अर्थ का व्यवधान कम होता है। पश्यन्ती वाणी में यह व्यवधान और भी कम हो जाता है; क्योंकि पश्यन्ती वाणी में केवल स्पन्द-मात्र होता है। वहाँ शब्द और अर्थ, दोनों ही सूक्ष्मतर अव्यक्त रूप में होते हैं। इस प्रकार इस वाणी में दोनों का व्यवधान लगभग तिरोहित हो जाता है; वे बहुत-कुछ 'कहियत भिन्न न भिन्न' के रूप में हो जाते हैं। परा वाणी में यह व्यवधान एकदम तिरोहित हो जाता है। वहाँ जो सुमिरन करनेवाला है वह, और जिसका सुमिरन करता है वह, एकमेक हो जाते हैं। दोनों में कोई भेद नहीं रहता। इसी भाव को बताने के लिए कबीर ने कहा है :

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावों काहि॥

और,

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ।
बारी फेरी बलि गई, जित देखों तित तूँ॥

इसी बात को दृष्टि में रखने के कारण इन भक्तों के साहित्य में वह जटिल विस्तार नहीं मिलता, जो सिद्धिकामी साधकों के साहित्य में इतना प्रमुख होकर आया है। इस चैतन्य स्मरण का ही यह परिणाम है कि कबीर आदि सन्तों ने शब्द की बाण या तलवार से तुलना की है। जो स्मरण चित्त की रचनात्मिका शक्ति के सहारे किया जाता है, अर्थात् जिसमें नाम के साथ नामी को भी निरन्तर याद किया जाता है, वह कभी निर्जीव रूढ़ि बनकर नहीं रह सकता; क्योंकि उसके साथ-साथ सत्य को जानने और असत्य को त्याग करने की प्रक्रिया चलती रहती है। जिसमें मानसिक संयम, वैराग्य और विवेक नहीं है, वह इस प्रकार के सुमिरन

को सह नहीं सकता। उसकी चोट सँभालना सबके वश की बात नहीं। कबीरदास ने अपने स्वाभाविक फक्कड़पने के साथ कहा है कि 'ज्यों-ज्यों मैं भगवान् का स्मरण करता हूँ, त्यों-त्यों तीर लगने की व्यथा अनुभव होती है; परन्तु इस चोट से भागनेवाले कोई और होंगे।' यह कबीर ही है, जो इस चोट को सह रहा है :

ज्यों ज्यों हरिगुण साँभलौ, त्यूँ-त्यूँ लागै तीर।
लागै पै भागा नहीं, भाँहणहार कबीर॥

पूछा जा सकता है कि शाक्त-साधकों में या नाथ-साधकों में इस प्रकार चोट की बात तो कहीं नहीं आती। सन्त-साधकों ने बार-बार इस चोट, व्यथा या मर्म की बात क्यों कही? इसमें क्या कोई रहस्य है या कोई नयी बात है? जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि सन्त-साधकों ने उस मूल तत्त्व को ग्रहण करने में कहीं गलती नहीं की है, जो उनके पूर्ववर्त्ती साधकों का चरम विवेच्य और परम लक्ष्य था। उनकी देन इतनी अवश्य है कि उन्होंने उस जटिल व्यवस्था को सरल बनाया है और 'छीलरों' के मोह को छोड़कर मूल स्रोत में ही अवगाहन करने का मार्ग दिखाया है। परन्तु इतना ही नहीं है। उन्होंने उस जटिल विवेचना को केवल सहज और मूलगम ही नहीं बनाया, उसमें नवीन प्रेम-रस को भी जोड़ा है। नाम या मन्त्र का जप केवल सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं है, केवल अद्वैत रस की उपलब्धि के लिए ही नहीं है, बल्कि वह उससे भी बड़ी चीज है; वह प्रेम-साधना है। सुमिरन केवल मन्त्र-जप नहीं है, न छोटी-मोटी सिद्धियों को प्राप्त करने के उद्देश्य से उद्भावित ही है। वह परम प्रेम-स्वरूप आनन्दकन्द के साथ प्रीति-लीला है, उसमें विरह की व्याकुलता है, मिलन की आकांक्षा है और एकमेक हो जाने का उन्माद है :

बासुरि सुख नां रैणि सुख, ना सुख सपने माँहि।
कबीर विछुट्या राम सों, ना सुख धूप न छाँहि॥
बिरहिनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीउ का, कब रे मिलेंगे आइ॥

इसीलिए शब्द व्याकुलता का वाहक है। कबीर जो इस शब्द की मार को सह सके हैं, वह इसलिए कि उनमें यह प्रेम था। प्रिय द्वारा निक्षिप्त

बाण को प्रेमी ही सिर-आँखों चढ़ा सकता है। कुछ भी हो, है तो वह प्रिय का। तुमने कल जिस बाण से मारा था, उसी से आज भी मारो; क्योंकि वह मेरे मन में बस गया है, उसके बिना शान्ति नहीं, चैन नहीं—

जो सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सरि बिनु सचु पावों नहीं॥

और,

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजे घाव।
साधू अंग न मोड़हीं, ज्यूँ भावे त्यूँ खाव॥

इस प्रकार नाम-जप और सुमिरन को कबीरदास ने प्रेम-भक्ति का साधन बनाया है। यह मन्त्र-साधना की महिमामयी परिणति है। उन्होंने उन सारी जटिल साधनाओं को अच्छी तरह से आत्मसात् किया है। मन्त्र या शब्द-साधना का सारा क्रम उन्हें हस्तामलक की भाँति स्पष्ट था। अनहद शब्द की चिन्तना के लिए किस प्रकार पंच प्राण की साधना की जाती है और त्रिकुटी सन्धि में गगन ज्योति दिखायी देने लगती है और किस प्रकार वहाँ सूर्य, चन्द्र और पवन को बाँधकर निमज्जित कर दिया जाता है, उन्हें सब मालूम है। उन्होंने अनुभव किया था कि ऐसा करने से मन स्थिर हो जाता है, सहस्रार कमल प्रकाशित हो उठता है और उस कमल में निरंजन ज्योति दिखायी देती है। उन्हें आसन और मुद्राओं की साधना का बहुत अच्छा परिचय था, परन्तु वे मूल तत्त्व को पकड़ने के पक्षपाती थे। वे सहज लक्षण को ग्रहण करके इन उपाधियों को छोड़ देने की सलाह देते हैं; वे हीरा और मणियों के मूल्य से पुष्प और पत्र का मूल्य अधिक समझते हैं; क्योंकि हीरा और मणि का मूल्य आरोपित है और पत्र और पुष्प के मूल्य स्वयंसिद्ध हैं। जहाँ पत्रों और पुष्पों को हीरा और मणि समझा जाता है, वहीं सहज तत्त्व निवास करता है और वहीं त्रिभुवन-धनी आसन जमाकर विराजमान होते हैं :

ऐसा ध्यान धरो नरहरी, सबद अनाँहद च्यंतन करी।
पहली खोजों पंचे बाई, नाद ब्यंद ले गगन समाई।
गगन ज्योति तहाँ त्रिकूटि संधि, रवि ससि पवना मेलो बंधि।
मन स्थिर होइ त कँवल प्रकासै, कँवला माँहि निरंजन बासै।

सतगुरु संपत खोलि दिखावै, निपुण होइ तो कहाँ बतावै ।
सहज लछिन ले तजौ उपाधि, आसण दिढ़ निद्रा पुनि साधि ।
पुहुप पत्र जहँ हीरा मणी, कहै कबीर तहाँ त्रिभुवन धणी ।।

इस प्रकार बौद्धों, शाक्तों और शैवों की साधना-पद्धति में जो सिद्धियों को प्राप्त करने का आडम्बर है, अनेक प्रकार की यन्त्र-तन्त्र की जटिल साधनाओं का विधान है, उसके मूल और वास्तव सत्य को कबीर और उनके अनुयायियों ने दृढ़ता से पकड़ लिया है और सिद्धियों के पीछे भागने की मनोवृत्ति का तिरस्कार किया है। परन्तु इतना करके ही वे विरत नहीं हुए। उन्होंने इस शब्द-साधना को प्रेमभक्ति के साथ जोड़ दिया है; इस प्रकार जो साधना नीरस और जटिल थी, उसे सरस और सहज बना दिया है। सन्तों की यह बड़ी देन है।

सुरति और निरति

'सुरति निरति परचा भया'

इसके पूर्व मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार मन्त्र-तत्त्व के मूल सिद्धान्त को सन्तों ने पकड़कर उसे सहज प्रेम का रूप दिया था। यह पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है और इसे ठीक से समझ लिया जाय, तो परात्पर सत्त्व को अनायास ग्रहण किया जा सकता है। पूर्ववर्त्ती तान्त्रिक परम्परा में इस मूल तत्त्व का बड़ा विपुल और जटिल साहित्य मिलता है। उसमें शक्ति के असंख्य केन्द्रों को सिद्ध करने का रहस्य बताया गया था। सन्त-साधकों ने बहुत सहज भाषा में उसे लोकग्राह्य बनाया है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में यह उनकी बड़ी भारी देन है। इस देन का महत्त्व वही समझ सकता है, जिसने उस विपुल साहित्य को आंशिक रूप से भी देखने का अवसर पाया है। योग और तन्त्र-साधना के साहित्य में पिण्ड-ब्रह्माण्डैक्य के सिद्धान्त ने अनेक रूप ग्रहण किये हैं। कुछ का, विशेषकर हठयोग-सम्बन्धी सिद्धान्तों का, व्यापक प्रभाव सन्तों की वाणी में मिल जाता है। सन्तों ने किस प्रकार नीरस और जटिल प्रक्रियाओं के स्तूप को सरस प्रेममय साधना का रूप दिया है, उसका सामान्य परिचय हमने पीछे दिया है। यहाँ थोड़ा और विचार करना है। हठयोग की जटिल साधना-पद्धति का थोड़ा परिचय कराये बिना आगे बढ़ना कठिन है; इसलिए मैं यहाँ फिर आपको कुछ अटपटी-सी लगनेवाली साधना-प्रक्रिया की शुष्क चर्चा में उलझाने की अनुमति चाहता हूँ। जब तक इस प्रकार की चर्चा नहीं होती, तब तक सन्तों के सहज धर्म का महत्त्व नहीं समझा जा सकेगा।

परा-संविद् : तान्त्रिक और यौगिक साधनाओं को देखने से एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि वे किसी ऐसी मूल शक्ति में विश्वास करती हैं, जो इस जगत् को रूप दे रही है और प्राणि-मात्र में एक रहस्यमयी क्रियात्मक शक्ति के रूप में काम कर रही है। जड़ पदार्थ को ही सही वास्त-

विकता माननेवाले कहते हैं कि यह जो चैतन्य है, वह जड़ पदार्थ का ही परिणाम है, परन्तु ये साधक मानते हैं कि बात बिल्कुल उलटी है। चित्-शक्ति ही नाना भावों में अपने-आपको रूपायित कर रही है। सत्ता-मात्र में, तत्त्व-मात्र में, भोग-मात्र में और प्रकाश-मात्र में एक ही चित्-शक्ति, एक ही परा-संविद् व्याप्त है। जो कुछ है, जो कुछ दिख रहा है, जो कुछ इन्द्रिय ग्राह्य है और जो कुछ उसे उद्भासित कर रहा है, वह सब परा-संविद् या सनातन चित्-शक्ति का विलास है :

सत्वे सत्वे सकलरचना संविदेका विभाति।
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति।
ग्रासे ग्रासे बहुलतरला लम्पटा संविदेका।
भासे भासे भजति भवता वृंहिता संविदेका।

—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' 4.39

चिद्वादी सिद्धान्त : पिछली शताब्दी के कई यूरोपीय दार्शनिकों ने अनेक प्रयोगों के बाद इसी प्रकार की एक चित्-शक्ति की लीला का सन्धान पाया था। वे अपने को 'वाइटलिस्ट' या चित्तत्त्ववादी कहते रहे। बर्गसाँ, नित्शे, इउकेन आदि दार्शनिक विभिन्न भाषाओं में इस एक तत्त्व की महिमा घोषित करते रहे। उनके ब्यौरे में अन्तर है; लेकिन इस मूल सत्य को उन्होंने प्रचारित किया है कि एक विश्वव्यापिनी चिदात्मिका शक्ति ही अपने-आपको नाना रूपों और चेष्टाओं में अभिव्यक्ति देती आ रही है। हमारे देश के शाक्त साधकों ने न जाने कब से इस सत्य का साक्षात्कार किया था। ब्रह्माण्डव्यापिनी इस परा-संविद् को किसी भी स्तर पर पकड़िए, वह सम्पूर्ण रूप से पकड़ में आ जायेगी। वही परा-शक्ति परात्पर परतत्त्व तक पहुँचाने की सहायिका होती है। हठयोगियों ने उसे शारीरिक चेतना के स्तर पर पकड़ा था। भीतर से बाहर की ओर क्रमशः अभिव्यक्त होनेवाली इस शक्ति को यदि बाहरी स्तर पर पकड़ना मंजूर है, तो धारा को उलटने की जरूरत होगी। जिसे बाहर पकड़ा गया है, उसके सहारे क्रमशः अन्तर और अन्तरतर के स्तर पर पकड़ने की प्रक्रिया ही धारा का उलटना है। पिछले अध्याय में शब्द-ब्रह्म की साधना के प्रसंग में हमने देखा था कि मूल निःस्पन्द परा-वाक् किस रूप में

क्रमशः पश्यन्ती और मध्यमा, और फिर वैखरी वाणी में अभिव्यक्ति पा रही है। यदि उसे वैखरी वाणी के स्तर पर पकड़ा गया, तो क्रमशः उलटे मार्ग से चलकर मध्यमा, फिर पश्यन्ती और फिर अन्त में परा-वाक् के स्पर पर पहुँचा जा सकता है। और यह परा-वाक् परा-संविद् का ही रूप है। परा-संविद् अर्थात् पर-शिव की शक्ति। दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है :

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
अन्तरं नैव जानीमश्चंद्रचन्द्रिकयोरिव।

—'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' 4.37

हठयोगी की साधना : हठयोगी इस चेतना को शारीरिक स्तर पर पकड़ने का प्रयास करता है। निर्गुण या गुणातीत शिव को वह धारा के विरुद्ध चलकर पकड़ने का प्रयास करता है। उसकी यह यात्रा बड़ी कठिन है। वह भावावेश को इस क्षेत्र में त्याज्य समझता है। वह सच्चे अर्थों में निर्मम ज्ञानमार्गी है। विकट है उसकी गमनोत्कण्ठा। हाय, उसने कभी सोचा नहीं कि इतने विकट मार्ग में अग्रसर होने की ललक उसमें क्यों आयी! अभिसार है, पर पता नहीं क्यों है! थोड़ा धैर्य धारण करके उसकी अभिसार-यात्रा की सूखी कहानी सुनें, तो आपको अचरज होगा। कोई नहीं जानता कि क्यों परात्पर परम शिव के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ। परन्तु वह इच्छा उत्पन्न हुई थी। इच्छा परा-संविद् के विकास का नाम है। जहाँ चित्-शक्ति पूर्ण विकसित नहीं है, वहाँ इच्छा भी नहीं है। पर यह हमारी सीमित दृष्टि का सत्य है। परम शिव की रहस्यमयी इच्छा का हेतु खोजना हमारे वश की बात नहीं। योगी भी नहीं जानता। जो हो, वे गुणातीत परम शिव, सगुण शिव और सगुण शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुए और सृष्टि-प्रपंच शुरू हो गया। क्यों हुआ, यह हमारी पहुँच के बाहर की बात है।

योग के विभिन्न रूप : संक्षेप में ऐसा समझा जा सकता है कि जो निर्गुण या गुणातीत ब्रह्म है, वह सृष्टि-क्रिया की ओर उन्मुख होने पर सगुण ब्रह्म का रूप धारण करता है। इसी को 'पर-बिन्दु' कहते हैं। यह अव्यक्तावस्था में रहता है और इसमें शिव और शक्ति तत्त्व पृथक्-पृथक्

प्रतिभात नहीं होते। किन्तु दोनों व्यक्त रूप में वर्त्तमान रहते हैं। लेकिन वे अब मूल के अव्यक्तावस्था से व्यक्त होने की ओर प्रवृत्त हुए रहते हैं। इसी अवस्था का नाम परा-वाक् है। बिन्दु में उसका स्थान मूलाधार चक्र में है। साधारणतः योग के चार रूप हैं—मन्त्र-योग, हठ-योग, लय-योग और राज-योग। ब्रह्म साक्षात्कार के विभिन्न उपाय हैं। ये साधनाओं के विभिन्न मार्ग हैं, जिनसे चित्त की बौद्धिक और भावात्मक प्रक्रियाएँ या वृत्तियाँ नियमित होती हैं। इन चारों भागों के आठ अंग हैं, जिन्हें शास्त्र में अष्टांग योग कहा गया है। प्रत्येक योग का लक्ष्य एक ही है; परन्तु कहा जाता है कि उनकी साधना-पद्धतियों के भिन्न होने से फल-प्राप्ति में शीघ्रता या निरापत्ता का तारतम्य है। जो समाधि मन्त्र-योग से सिद्ध होती है, उसे महाभाव कहते हैं। और हठ-योग द्वारा सिद्ध समाधि को महाबोध और लय-योग वाली को 'महालय' तथा राज-योग या ज्ञान-योग से सिद्ध समाधि को 'कैवल्य' समाधि कहते हैं। राज-योग और लय-योग में बौद्धिक प्रक्रियाएँ ही प्रधान होती हैं। उसमें चिन्तन और निदिध्यासन द्वारा मनोवृत्तियों को संयमित करने का विधान है। मन्त्र-योग में जप, पूजा और उपासना की प्रधानता है। हठ-योग में प्राणायाम की साधना और शारीरिक व्यायाम पर अधिक जोर है। परन्तु प्रत्येक योग में दूसरे योग की कुछ-न-कुछ प्रक्रियाएँ अवश्य ग्रहण की गयी हैं। ज्ञान-योगी या राज-योगी के यहाँ कुण्डलिनी का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि वह बौद्धिक संयम द्वारा समाधि प्राप्त कर लेता है; पर हठ-योगी कुण्डलिनी की सहायता लेता है, क्योंकि उसके मत से सहस्रार चक्र में शक्तिरूपा कुण्डलिनी के साथ अखण्डज्योति शिव का मिलन होता है और वस्तुतः यही स्वरूप-ज्ञान है।

योग की इस साधना का इतिहास बहुत पुराना है। कितना पुराना है, यह बता सकना कठिन है। हमारा इतिहास जहाँ तक हमें घसीटकर पीछे ले जाता है, वहाँ तक योग-साधना की परम्परा प्राप्त होती है। पर यह इतिहास कितनी दूर तक हमें ले जा सकता है? बहुत कम दूर। मोहेन्-जो-दरो और हरप्पा के अवशेष उसके अन्तिम छोर हैं। योग वहाँ भी मिलता है और इंगित करता है कि यही आरम्भ नहीं है; और भी

ह, और भी। पर वहाँ तक पहुँचने का साधन कहाँ है ?

पातंजल योग-सूत्रों में योग-साधना और तत्त्ववाद का बहुत सुन्दर विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है कि योग-साधना का बहुत सुन्दर विशाल साहित्य रहा होगा। इस ग्रन्थ ने परवर्त्ती योगमार्गों को निरन्तर प्रेरणा दी है। इसलिए संक्षेप में इसकी उन बातों को जान लेना आवश्यक है, जो प्रासंगिक हैं।

योग का लक्ष्य : योग-दर्शन सम्पूर्ण शास्त्रार्थ को चार भागों में विभक्त करता है—हेय, हेय-हेतु, हेय-हान और हानोपाय। दुःख और दुःखजनक पदार्थ हेय हैं और चूँकि अविद्या ही इस हेय वस्तु को जीव के सामने उपस्थित करती है और जीव गलती से उन्हें 'भोग्य' और अपने को उनका भोक्ता समझकर उलझ जाता है, इसलिए यह जो भोग्य-भोक्ता-भाव-रूप संयोग है, वही हेय-हेतु है। स्पष्ट ही अविद्या के कारण यह संयोग सम्भव होता है, इसलिए वास्तविक हेय-हेतु तो अविद्या ही है और विवेक-ज्ञान ही इस हेय-हेतु के ज्ञान का उपाय है; क्योंकि उसी से आत्मा और अनात्मा का पार्थक्य ठीक-ठीक उपलब्ध होता है और अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम लक्ष्य है, यही कैवल्य है।

जब तक विवेक ख्याति नहीं हो जाती, तब तक योगांगों के अनुष्ठान से चित्त को विशुद्ध करने का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है (2-28)। ये आठ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार तथा धारणा, ध्यान और समाधि। प्रथम पाँच बाह्य हैं और अन्तिम तीन आन्तर। पहले संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

पाँच बाह्य योगांग : 1. बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्तिसंकोचन) को यम कहते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना), ये यम हैं। इन यमों (संयमों) की विपरीत क्रियाओं—हिंसा, असत्य, स्तेय, वीर्य-क्षय, परिग्रह—को वितर्क कहते हैं। इनका फल दुःख और अज्ञान है। 2. वितर्कों के दमन और संयमों की उपलब्धि के लिए शास्त्रकार ने पाँच

प्रकार के नियम बतलाये हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। 3. योग-साधन के लिए नाना प्रकार के आसन उपयोगी बताये गये हैं। आसन अर्थात् हाथ-पैर आदि का विशेष ढंग से सन्निवेश। परवर्त्ती योगग्रन्थों में आसनों की अनेक संख्याएँ बतायी गयी हैं। परन्तु पातञ्जल दर्शन ने स्थिर और सुखकर आसन (2.46) को ही योग-साधन का प्रकृष्ट उपाय बताया है। 4. श्वास को भीतर भरना (पूरक), उसे देर तक भीतर ही आबद्ध रखना (कुम्भक), फिर बाहर निकालना (रेचक), प्राणायाम कहा जाता है। प्राण अर्थात् वायु के संयमन से मन का संयमन सहज हो जाता है। 5. शब्दादि बाह्य व्यापारों से कान प्रभृति इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना होता है। उस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क न होने से वे चित्त का सम्पूर्ण रूप से अनुसरण करते हैं। इन्द्रियों की इस प्रकार की अवस्था का नाम ही 'प्रत्याहार' है। इससे इन्द्रियों को वश में करना सम्भव होता है।

तीन आन्तर योगांग : इन पाँच योगांगों की चर्चा करने के बाद सूत्रकार ने दूसरा पाद समाप्त कर दिया है। बाकी तीन योगांगों का वर्णन विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में किया है। ये पाँच बहिरंग साधन हैं, क्योंकि कार्य-सिद्धि से इनका बाहरी सम्बन्ध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांग साक्षात् सम्बन्ध से कार्य-सिद्धि के हेतु हैं, इसलिए अन्तरंग साधन कहे गये हैं। इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' दिया गया है। तीनों का एक ही साथ नाम देने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों जब एक विषय का आश्रय करते होते हैं, तभी योगांग होते हैं, अन्यथा नहीं। एक विषय की धारणा, दूसरे का ध्यान और तीसरे की समाधि को योग नहीं कह सकते। सो नाना विषयों में विक्षिप्त चित्त को बलपूर्वक किसी एक ही वस्तु (जैसे, श्रीकृष्ण की मूर्त्ति) पर बाँधने को धारणा कहते हैं। 'धारणा' से जब चित्त कुछ स्थिर हो जाता है, तब उस विषय की एकाकार चिन्ता (प्रत्यैकतानता) को 'ध्यान' कहते हैं (3.2) और यह ध्यान जब निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के आकार में आभासित होता है (अर्थ-पात्र-निर्माण), तब समाधि

कहा जाता है (3.3)। प्रथम पाद में जिस सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा हुई है, वह समाधि इससे भिन्न है। वह साध्य है, यह साधन है; वह फल है, यह उपाय है। उस स्थूलग्राह्य, सूक्ष्मग्राह्य, ग्रहण और गृहीता भेद से अवलम्बित समाधि की अवस्था में 'संयम' (ध्यान, धारणा, समाधि) का विनियोग करना होता है। जहाँ तक सम्प्रज्ञात समाधि का सम्बन्ध है, वहीं तक योग के आठ अंगों में से पाँच बहिरंग और तीन अन्तरंग हैं। असम्प्रज्ञात समाधि के लिए तो आठों बहिरंग हैं। जब मनुष्य समाधि की दशा में नहीं होता अर्थात् जब वह व्युत्थान दशा में होता है तब उस समय दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जिन विषयों का अनुभव करता है, वे स्वयं नष्ट हो जाने के बाद भी अपना संस्कार छोड़ जाते हैं और इसीलिए वे संस्कार निरन्तर स्मृति उत्पन्न करते रहते हैं। व्युत्थान अवस्था की भाँति समाधि अवस्था में भी संस्कार रहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में यद्यपि चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध रहती हैं, तथापि संस्कार रहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से भी एक प्रकार का संस्कार पैदा होता है। व्युत्थान दशावाले संस्कारों को 'व्युत्थानज' और निरोध दशावाले संस्कारों की 'निरोधज' कहते हैं। इन दोनों का द्वन्द जारी रहता है। जो प्रबल होता है, वही विजयी होता है। दीर्घ साधना के बाद साधक के निरोधज संस्कार प्रबल होकर व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं। इस अवस्था को ग्रन्थकार ने 'निरोध परिणाम' कहा है (3.9)। यहाँ आकर योगी को नाना भाँति की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। स्वर्ग के देवतागण उसे नाना भाव से प्रलुब्ध करते हैं। कच्चे योगी इससे भटक जाते हैं, पर सच्चे योगी विचलित नहीं होते। वे उन विभूतियों के दर्शन से विस्मित भी नहीं होते, चंचल भी नहीं होते, और प्रलुब्ध भी नहीं होते।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि

हठयोग में इनका प्रयोग : हठयोग की साधना स्थूल शरीर पर होती है। वह क्रमशः सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित करती है। कहा जाता है कि 'ह' का अर्थ सूर्य है और 'ठ' का चन्द्र। दोनों के योग को हठयोग कहते हैं। इसकी अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। कहा गया है कि सूर्य इड़ा है

और चन्द्र पिंगला। इन दोनों के सामरस्य से सुषुम्ना के मध्य में स्थित ब्रह्म नाड़ी के मार्ग से उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी सहस्रार में स्थित अखण्ड-ज्योति-रूप शिव से मिलती है। फिर यह भी कहा गया है कि नाभि-मूल में सूर्य-स्थान है और तालु के ऊर्ध्व देश में ब्रह्मरन्ध्र के पास चन्द्र-स्थान। चन्द्रमा से बराबर अमृत झरता रहता है और सूर्य उसको बराबर सोख लिया करता है। अनेक यौगिक प्रक्रियाओं के द्वारा इन परस्पर-विरोधी क्रियाओं का शमन होता है और योगी अजर-अमर हो जाता है, किन्तु षट्चक्र-निरूपण की टीका में वचन इस प्रकार हैं :

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
रज्जुबद्धो यथा श्येनं गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
तथा चेतो विसंवादे संवादे संत्यजेदिमम्।

अर्थात् अपान प्राण को और प्राण अपान को इस प्रकार खींचता रहता है, जैसे कोई बाज को रस्सी में बाँधकर उड़ जाने पर भी पुनः खींचता है। इनमें परस्पर विरोध रहता है। जब तक यह विसंवाद है, तब तक जरा है, मरण है, व्याधि है। यदि यह विसंवाद दूर हो जाय, तो फिर वह समाधि सिद्ध होती है, जिसमें पिण्ड-स्थित वायु और ब्रह्माण्ड-स्थित वायु की अर्थात् व्यष्टि-प्राण और समष्टि-प्राण की एकता सिद्ध होती है। स्थूल शरीर में विकारों का नाश सूक्ष्म शरीर को सबल और निर्विकार बनाता है और इस प्रकार मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है।

मन-प्राण-वायु : ब्रह्माण्ड में व्याप्त अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूत के पिण्डस्थ प्रतीक मन, प्राण और वायु हैं। वस्तुतः ये तीनों एक हैं, इसलिए किसी एक को वश में करने से बाकी सब वश में हो जाते हैं। इस तरह प्राणायाम की साधना से योगी मानसिक समाधि भी प्राप्त करता है और ऊर्ध्वरेता भी हो जाता है। वैसे तो प्राणायाम प्रत्येक योग में थोड़ा-बहुत स्वीकृत है, क्योंकि अष्टांगों में से एक यह भी है; परन्तु यह जहाँ और योगों में सहायक है वहाँ हठयोग में मुख्य है।

हठयोग की सात प्रक्रियाएँ : हठयोग की साधना में सात प्रक्रियाएँ हैं—1. शोधन, जो षट्कर्मों द्वारा सिद्ध होता है, 2. दृढ़ता, जो आसनों द्वारा सिद्ध होती है, 3. स्थिरता, जो मुद्राओं द्वारा सिद्ध होती है, 4. धैर्य, जो

इन्द्रिय-संयम या प्रत्याहारों द्वारा सिद्ध होता है, 5. लघुता या लाघव, जो प्राणायाम से सिद्ध होता है, 6. प्रत्यक्ष, जो ध्यान के द्वारा सिद्ध होता है, और 7. निर्लिप्तत्व, जो समाधि में प्राप्त होता है और जो अन्तिम लक्ष्य है। जो लोग वात, पित्त और कफ आदि विकारों से त्रस्त हैं, उन्हें षट्कर्मों के द्वारा आत्म-शोधन करना पड़ता है; किन्तु जिन लोगों को ऐसे विकार नहीं हैं, उनके लिए षट्कर्मों की साधना आवश्यक नहीं।

षट्कर्म : षट्कर्मों में प्रथम है धौति अर्थात् धोना। अन्तर-धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलधौति। इसमें अन्तर-धौति चार प्रकार की होती है : 1. वातसार, अर्थात् वायु पेट में ले जाकर फिर उसको निकालना है। 2. वारिसार, शरीर में पानी भरकर फिर उसको पायु-मार्ग से निकाल देना है। 3. वह्निसार में नाभिग्रन्थि को मेरुदण्ड से स्पर्श कराते हैं और इस प्रकार संघर्ष से उष्णता उत्पन्न करते हैं। इसके बाद बहिष्कृत करने की प्रक्रिया होती है, जिसमें साधक काकिनीमुद्रा द्वारा शरीर में वायु भर लेता है और आधे पहर तक वायु को शरीर में रोके रहता है और इस प्रकार सारे शरीर से वायु को निकालकर उसको एक प्रकार की बुहारी देता है। इसी प्रकार और धौतियों के भी अनेक प्रकार हैं।

वस्ती का स्थान षट्कर्मों में दूसरा है। यह शुष्क-वस्ती और जल-वस्ती के रूप में, दो प्रकार की होती है। जो जल-वस्ती है, उसमें योगी नाभि तक पानी में जाकर उत्कटासन में बैठता है और अश्विनी मुद्रा से मल-मार्ग का संकोचन और प्रसरण करता है। या फिर वह पश्चिमोत्तानासन में बैठकर नाभि के नीचे के मल को नाना भाव से संचालित करता है। नेति एक प्रकार की वस्ती है, जिसको नासारन्ध्र में लगाकर नाकों को साफ किया जाता है। लौलकी में योगी पेट को एक सिरे से दूसरे सिरे तक संचालित करता है। त्राटक में योगी अपलक भाव से तब तक देखता है, जब तक आँसू नहीं निकलता। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस क्रिया से दिव्य-दृष्टि तक प्राप्त हो जाती है। कपाल भाति में तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ हैं। वातक्रमण में तो वायु के अन्तर्ग्रहण और बहिर्निष्कासन का प्रयत्न होता है। व्युत्क्रम में नासा से पानी ले जाकर

मुँह से बाहर किया जाता है और उत्क्रम में मुख से पानी ले जाकर नासा-रन्ध्र से बाहर कर दिया जाता है। इन्हीं प्रक्रियाओं से हठयोगी शरीर को शुद्ध करता है।

आसन : षट्कर्म करने के बाद हठयोगी आसन की साधना करता है और इसके द्वारा दृढ़ता प्राप्त करता है। आसन शरीर के विशेष भाव से स्थित करने की प्रक्रिया का नाम है। सभी आसन बैठकर ही नहीं किये जाते। कुछ पीठ से, कुछ पेट से और कुछ हाथ से भी किये जाते हैं। 'हिरण्य-संहिता' का कहना है कि जितने जीव हैं, उतने आसन हो सकते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि चौरासी लाख योनियों के चौरासी लाख आसन। 'शिव-संहिता' में चौरासी आसन बताये गये हैं, जिनमें चार को उत्तम माना है। ये 1. सिद्धासन, 2. उग्रासन, 3. स्वस्तिकासन, और 4. पद्मासन हैं। कुछ हठयोगी चार और आसनों को श्रेष्ठ आसनों में गिनते हैं; ये चार हैं : 1. बद्धपद्मासन, 2. त्रिलोकासन, 3. मयूरासन, और 4. भुजंगासन। इनमें मुक्त-पद्मासन और बद्ध-पद्मासन साधारणतः अधिक प्रचलित हैं। इन आसनों के साथ मुद्राओं का भी अभ्यास किया जाता है। तन्त्रों में कुछ विशेष प्रकार के आसनों की चर्चा आती है। इसमें मुण्डासन, चितासन और शवासन हैं। इनका अभ्यास भय को जीतने के लिए किया जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि पतंजलि ने आसनों की चर्चा इतने विस्तार से नहीं की। उनके शास्त्र में आसन पर बहुत अधिक जोर नहीं दिया गया। जो हो, आसन का महत्त्व तो उन्होंने स्वीकार किया ही है। वस्तुतः आसन मानसिक सन्तुलन के लिए सहायक होता है, लेकिन हठयोगी अनेक प्रकार के आसनों का विस्तार करता है। इन आसनों में से कुछ तो ऐसे हैं, जो केवल कसरत मात्र हैं। उनसे मानसिक सन्तुलन कितनी दूर तक सुरक्षित होता है, यह कहना तो बहुत कठिन है; लेकिन इतना सत्य है कि अनेक आसन शारीरिक और मानसिक स्वस्थता अवश्य देते हैं, क्योंकि उनसे प्राणायाम और कुण्डली-जागरण में सहायता मिलती है।

मुद्रा : जैसा कि पहले कहा गया है, मुद्राओं की सहायता से स्थिरता आती है। हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा शारीरिक स्थिति का नाम है। ऐसा

विश्वास किया जाता है कि मुद्राओं के अभ्यास से अग्नि, जल और वायु के प्रकोप से रक्षा होती है। 'हिरण्य-संहिता' में अनक प्रकार की मुद्राएँ बतायी गयी हैं। इनमें कुछ इस कुण्डली योग के लिए श्रेष्ठ हैं। सिद्धासन में योगिनी मुद्रा द्वारा योगी हाथों से कान, आँख और मुख को इस प्रकार बन्द कर लेता है कि बाहरी कोई भी विषय अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श भीतर नहीं प्रवेश करता। अपनी एड़ियों से वह योनिकन्द (सेंटर आफ दि पैरीनियम) को इस प्रकार दबाता है, जिससे पायु-द्वार बन्द हो जाता है और पुरुषेन्द्रिय इस प्रकार भीतर घुस जाता है, जिससे वह नारी-जननेन्द्रिय की तरह दिखायी देने लगता है। वह काकिनी मुद्रा द्वारा ओठों को काक-चंचु के समान बनाकर मृदुभाव से वायु को भीतर प्रवेश कराता है। इस मुद्रा के द्वारा प्राणवायु और अपानवायु का सम्पर्क होता है। और इस प्रकार षट्चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करता हुआ प्रसुप्त कुण्डलिनी को 'हुं हं सः' मन्त्र द्वारा प्रबुद्ध करता है। इसमें 'हुं' जो है, वह कवच बीज है, यह काम अर्थात् सर्जनेच्छा और क्रोध अर्थात् तम-भाव का प्रतीक है और 'हं सः' 'सो' 'हं' का उल्टा रूप है, जिसमें प्रकृति और पुरुष के एकीकरण का भाव है। 'हं' सूर्य का भी प्रतीक है और 'सः' काम का प्रतीक है। इस प्रकार 'हुं हुं सः' मन्त्र काम और क्रोध से, जो वस्तुतः एकरूप हैं, रक्षा प्राप्त करने की भावना का प्रतीक है। जाग्रत कुल-कुण्डलिनी सहस्रार में शिव से मिलित होती है। इस प्रकार 'अहं सः' कह-कर साधक वस्तुतः शिव और शक्ति की मिलितावस्था की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। अश्विनी मुद्रा पायु-प्रदेश के संकोचन और विस्तारण से शोधन-कार्य में सहायक होती है और षट्चक्र भेदन के लिए अपान-वायु का नियन्त्रण करती है। शक्ति-चालन में उदरस्थ पेशियों का बायें से दाहिने और दाहिने से बायें इस प्रकार संचालन किया जाता है, जिससे मेरुदण्ड में सक्रियता आती है और कुण्डलिनी उद्बुद्ध होती है। सिद्धासन बाँधकर प्राण और अपान के सामरस्य से यह प्रक्रिया सिद्धि प्राप्त करती है।

विविध मुद्राएँ : योनि-मुद्रा, शक्ति-चालन-मुद्रा के साथ ही की जाती है, किन्तु पहले शक्ति-चालन-मुद्रा का पूर्ण अभ्यास हो जाना चाहिए।

तभी योनि-मुद्रा का अभ्यास सम्भव है। अश्विनीमुद्रा के द्वारा पेट का आखिरी हिस्सा संकुचित और प्रसारित किया जा सकता है, जिससे वायु सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करने का मार्ग पाती है। कुम्भक साधकर 'हुं हं सः' मन्त्र का जप करते योगी कुण्डलिनी की सहस्रार तक उद्‌बुद्ध करता है और उस अवस्था में शिव-शक्ति-संगम की अवस्था को अनुभव करता है। उस अवस्था में वह ध्यान करता है कि 'मैं आनन्द रूप हूँ' और 'मैं ब्रह्म हूँ'। महामुद्रा और महावेध महाबन्ध आसन में किये जाते हैं, और तब फिर जालन्धर-बन्ध का अभ्यास किया जाता है। जब

आसनों का फल कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब प्राण सुषुम्ना-मार्ग से संचालित होता है और इड़ा और पिंगला निर्जीव हो जाती हैं। शास्त्र में बताया गया है कि इस मुद्रा के अभ्यास से मनुष्य जरा, मरण और व्याधि को जीत लेता है। महावेध में योगी पहले महाबन्ध आसन में बैठता है और मनोयोग द्वारा प्राण की ऊर्ध्व और अधोगति को बन्द कर देता है और हथेलियों के बल पर इस प्रकार ऊपर उठता है कि जिससे उसके दोनों स्फिक् पृथ्वी को ईषत् स्पर्श किये रहते हैं। इस क्रिया से इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ सम्मिलित होती हैं और प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ऊपर उठता है और शरीर मृतवत् निश्चेष्ट हो जाता है। इसके लिए और भी आसन और बन्ध बताये गये हैं। खेचरी मुद्रा जिह्वा को लम्बा करने की प्रक्रिया है। इसमें जीभ इतनी बड़ी हो जाती है कि भ्रुवों के मध्य भाग को स्पर्श करने लगती है। फिर उसको कण्ठ की ओर उलटते हैं और श्वास-मार्ग को बन्द कर देते हैं। ऐसी अवस्था में योगी आज्ञा-चक्र का ध्यान करता है और उस सिद्धि को प्राप्त करता है, जिसमें ऊर्ध्व कुण्डलिनी समस्त ब्रह्माण्ड को विजय करती है। सारा ब्रह्माण्ड वस्तुतः पिण्ड में ही है। इस मुद्रा के अभ्यास से योगी समस्त जगत् से आत्मा की एकान्तता अनुभव करता है। शाम्भवी मुद्रा में सिद्धासनासीन योगी अपने चित्त को वृत्तियों से मुक्त रखता है।

बन्ध : मुद्राओं में अनेक प्रकार के बन्ध भी सम्मिलित हैं, जो प्राणायाम के लिए आवश्यक कहे गये हैं। इनमें तीन—उड्डियान, मूल और जालन्धर प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त महाबन्ध भी है, जिसकी चर्चा ऊपर

हो चुकी है। उड्डियान बन्ध में प्रबल श्वास-प्रश्वास-क्रिया द्वारा फेफड़ों से प्राण-वायु निकालते हैं और प्राण को सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करने के योग्य बनाते हैं। मूल में प्राणवायु और अपानवायु को मिलित करके चालित किया जाता है, जिससे एक प्रकार का भीतरी स्वर सुनायी देता है। यह एक प्रकार का कम्पन है। इस प्रकार प्राण और अपान अनाहत चक्र के नाद के साथ मिलकर हृदय-द्वार तक जाते हैं और वहाँ से आज्ञा-चक्र के साथ मिलित होते हैं। मूल बन्ध में पायु और उपस्थ के मध्यवर्त्ती प्रदेश में स्थित उस योनि को दबाते हैं, जिसमें स्वयम्भू लिंग है, जिसे साढ़े-तीन वलयों में वेष्टित करके कुण्डलिनी अधोमुख विराजमान है। पैरों से इस योनि को दबाया जाता है और अश्विनी मुद्रा के द्वारा अपानवायु को ऊपर खींचा जाता है। इसकी स्वाभाविक गति अधोमुख है। किन्तु मूलाधार में संकोचन-क्रिया के द्वारा इसे सुषुम्ना-मार्ग से ऊर्ध्व मुख चालित किया जाता है और प्राण से इसका मिलन कराया जाता है। नाभि के नीचे कोई अग्नि है, जो त्रिकोण मण्डल में विद्यमान है; वह अपानवायु से बीजित होकर तेजी से सुलगती है और शरीर में अद्‌भुत उष्णता का संचार करती है। कहते हैं, इस उष्णता से कुण्डलिनी जाग्रत होती है और सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करती है।

जालन्धर बन्ध : कण्ठदेश में जहाँ विशुद्धाख्य चक्र है, वहाँ प्राण-वायु के संकोचन और प्रसारण द्वारा जालन्धर बन्ध सिद्ध होता है। इसमें ठुड्डियाँ दृढ़तापूर्वक कण्ठ-मूल से सटकर हृदय-देश से लगभग चार अंगुल की दूरी पर रह जाती हैं। इस बन्ध से षोडश आधारबन्ध सिद्ध किये जाते हैं और तालु-देश से जो अमृत झरता रहता है, वह भी रुद्ध हो जाता है और प्राण सुषुम्ना में लीन हो जाता है। जब कण्ठ-देश से प्राण नीचे की ओर चालित किया जाता है और मूलाधार से अपान जब ऊपर की ओर चालित किया जाता है, तब वायु सुषुम्ना-मार्ग में चालित होती है। इसी प्रकार महाबन्ध में भी प्राण को अन्य नाड़ियों से हटाकर सुषुम्ना मार्ग में चालित किया जाता है।

प्रत्याहार : इस प्रकार जब स्थूल शरीर को शुद्ध और संयत बनाया जाता है, तब धैर्य-प्राप्ति के लिए प्रत्याहार की प्रक्रिया की जाती

है। यहाँ से हठयोगी स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर को वश में करने की कोशिश करता है। यह योग-साधना का बहुत आगे बढ़ा हुआ रूप है। इसमें योगी को अपने इन्द्रिय और मन सब पर विजय प्राप्त हो गयी होती है।

प्राणायाम : प्राणायाम के द्वारा लघुता या लाघव प्राप्त होता है। हम लोग जो साँस लेते हैं वह स्थूल वायु है, वह प्राण-वायु का बाहरी रूप है। स्थूल वायु के नियमन से सूक्ष्म प्राण-वायु का भी नियमन होता है। इसी प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम शब्द में आयाम शब्द का अर्थ दैर्घ्य, परिणाट्ट और विशालता है ; अर्थात् प्राण-वायु को लम्बा, फैला हुआ और विशाल बनाना इसका उद्देश्य है। स्थूल प्राण-वायु इड़ा और पिंगला नाड़ियों से चलता रहता है और सूक्ष्म प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग से चालित होता है। यह सूक्ष्म प्राण-शक्ति कुण्डलिनी के द्वारा षट्चक्र-भेदन में समर्थ होती है। शास्त्रों में प्राणायाम का बहुत विस्तार है और यह निर्देश है कि गुरु के आदेश के बिना इसे नहीं करना चाहिए। लेकिन उस समूचे विस्तार का लक्ष्य एक मात्र यही है कि प्राण-वायु को सुषुम्ना में चालित किया जाता है और सहस्रार में उसका लय हो जाता है। सहस्रार में लय होने के पूर्व प्राणदेवता कुण्डलिनी, षट्चक्रों का भेदन करता है। जब प्राण सुषुम्ना-मार्ग में संचालित होता है, तब मन स्थिर हो जाता है और जब चित्त सुषुम्ना में जाग्रत होता है, तब प्राण गतिहीन हो जाता है। राजयोग में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा भी यही प्राप्त किया जाता है। राजयोग में अनेक मानसिक प्रक्रियाओं के रूप हैं, जबकि हठयोग में वे सब प्राणायाम में ही अन्तर्भुक्त हैं।

प्राणायाम का लक्ष्य

अजपा गायत्री : सभी प्राणी अजपा गायत्री का जप किया करते हैं। यह गायत्री श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में होती है। सः-कार के साथ श्वास भीतर जाता है और अहं-कार के साथ बाहर निकलता है। इसी को 'सोऽहं' वृत्ति कहते हैं; यही अजपा गायत्री है। दिन में इक्कीस हजार छः सौ बार श्वास-प्रश्वास की क्रिया चलती है। अतएव इतनी ही बार अजपा गायत्री का जप होता है। साधारण प्रश्वास बारह अंगुल तक जाता

है; लेकिन शयन, भोजन, संचरण, गायन इत्यादि के समय इसकी गति बढ़ जाती है और वह छत्तीस अंगुल की दूरी तक भी जा सकता है। क्लान्तिकर व्यायामों के समय इसकी गति में और भी तेजी आ जाती है। ऐसी अवस्था में श्वास की गति अधिक से अधिक 96 अंगुल तक पहुँच सकती है। श्वास को भीतर ले जाने की क्रिया का नाम पूरक है और बाहर निकालने की क्रिया का नाम रेचक। इन दोनों से भिन्न श्वास की उस अवस्था को, जब वह भीतर रहता है, कुम्भक कहते हैं। 'घेरण्ड-संहिता' में आठ प्रकार के कुम्भकों की चर्चा है। वस्तुतः हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम की प्रक्रिया का बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत विचार पाया जाता है।

नाड़ी-शुद्धि : नाड़ी-शुद्धि भी हठयोग का अंग है। नाड़ी-शुद्धि के लिए हठयोगी कई वर्ष भी लगा सकता है। दो प्रकार की नाड़ी-शुद्धियाँ बतायी गयी हैं—निर्मन अर्थात् बीज मन्त्र के उपयोग के बिना और समन अर्थात् बीज मन्त्र के उपयोग के साथ। इसका भी ग्रन्थों में बड़ा विस्तार है और बताया गया है कि गुरु की सहायता के बिना इसका करना दुष्कर है। इस सारी प्रक्रिया के विस्तार में जाने से हम बहुत अधिक उलझ जायेंगे, इसलिए इस प्रसंग को यहीं समाप्त किया जाता है।

ध्यान : 'घेरण्ड-संहिता' के अनुसार ध्यान तीन प्रकार का होता है—स्थूल, ज्योतिर्मय और सूक्ष्म। स्थूल ध्यान में चित्त में इष्टदेवता का ध्यान किया जाता है। उदाहरणार्थ, साधक ध्यान करता है कि उसके हृदय में महासमुद्र है, इसके भीतर एक रत्नद्वीप है। इसके पुलिन देश में रत्न-बालुका फैली हुई है और चारों ओर कदम्बवृक्षों का घना जंगल है। जंगल के चारों ओर मालती, चम्पक, पारिजात तथा अन्य रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पों का जाल बिछा हुआ है। कदम्बवन के भीतर मध्य-स्थल में कल्प वृक्ष है, जो फूल और फल के भार से झुका हुआ है। इस वृक्ष के नीचे महार्ह मणियों के मण्डप में सुन्दर शैया है, जिसमें उसके इष्ट-देवता बैठे हुए हैं। यह देवता साधक का अपना अन्तर-आत्मा ही है। साधक की प्रवृत्ति को देखकर गुरु इस देवता के रंग-रूप और वाहन का ध्यान बतायेंगे। यह एक कल्पना है। अपनी रुचि और संस्कारों से बनी

हुई भावधारा के अनुसार इस प्रकार सैकड़ों ध्यानों की कल्पना की जा सकती है। ज्योतिर्ध्यान में इस कल्पित देवता-मूर्त्ति में तेज का संचरण होता है। मूलाधार में सर्पिणी-रूपा कुल-कुण्डलिनी स्थित है। वही दीप-शिखा की भाँति जीवात्मा है। उसका ध्यान किया जाता है, या फिर भूमध्य में प्रणवात्मक ब्रह्म का ध्यान किया जाता है, जो ज्योतिस्वरूप है। सूक्ष्म ध्यान शाम्भवी मुद्रा में कुण्डलिनी को लक्ष्य बनाकर किया जाता है। कहते हैं, जाग्रत कुण्डलिनी के ध्यान से आत्मा का साक्षात्कार होता है और अन्त में समाधि द्वारा निर्लिप्तत्व प्राप्त होता है फिर मुक्ति प्राप्त होती है।

छः प्रकार का समाधि-योग : 'घेरण्ड-संहिता' में छः प्रकार के समाधि-योग की चर्चा है। पहला शाम्भवी मुद्रा से सिद्ध होनेवाला ध्यान-योग, दूसरा खेचरी मुद्रा द्वारा सिद्ध होनेवाला नादयोग, तीसरा कुम्भक प्राणायाम के द्वारा सिद्ध होनेवाला रसानन्द योग, जिसमें नाना प्रकार के नाद सुनायी पड़ते हैं। इसका नियमित अभ्यास करने से अनाहत ध्वनि सुनायी देती है और मन में एक प्रकार की अखण्ड ज्योति का साक्षात्कार होता है, जो अन्त में परमविष्णु के रूप में परिणत हो जाती है। चौथी लय सिद्ध-योग-समाधि योनि मुद्रा द्वारा सिद्ध की जाती है। इसमें साधक अपने को शक्ति, और परमात्मा को शिवरूप में देखता है और शिव के साथ मिलन में लोकोत्तर शृंगार-सुख का अनुभव करता है। वैष्णव साधकों की मधुर-भाव की साधना से यह मिलता-जुलता है। पाँचवीं भक्ति-योग-समाधि है, जिसमें इष्टदेवता का ध्यान तब तक किया जाता है, जब तक साधक के अंग-अंग से आनन्द-गद्‌गद सात्विक भाव प्रकट नहीं होने लगता। उसके नेत्रों में अश्रु, शरीर में स्वेद, उत्कम्प तथा रोमांच होने लगते हैं। छठी समाधि का नाम राज-योग है। इसमें कुम्भक प्राणायाम के द्वारा साधक मन को मूर्च्छित करता है। इस अवस्था का नाम मनोमूर्च्छा है। सांसारिक विषयों से विरत करके वह अपने चित्त को भ्रूमध्य स्थित आज्ञा-चक्र में निबद्ध करता है और इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करता है।

'हठयोग-प्रदीपिका' के अनुसार हठयोग की साधना से शरीर स्वस्थ भी रहता है, इसमें लघुता या फुर्ती भी आती है, आँखों में ज्योति आती

है, वीर्य का स्तम्भन होता है और नाड़ियों की शुद्धि होती है और इस प्रकार अन्तर की अग्नि प्रज्वलित होती है और अनेक प्रकार के नाद सुनायी देते हैं। यह नाद अनाहत चक्र से उत्थित होता है। यहीं से शब्दब्रह्म वायु द्वारा अभिव्यक्त होता है और बुद्धि से युक्त होता है। यह अभिव्यक्ति नाद फिर विशेष स्पन्द की ओर उन्मुख होता है, जो मध्यमा वाक् के रूप में प्रकट होता है। जब तक यह नाद वैखरी वाणी के रूप में नहीं प्रकट होता, तब तक स्थूल इन्द्रियों द्वारा सुनायी नहीं देता; किन्तु योगी जब अनेक बन्धों और मुद्राओं से प्राण और अपान का संगम करा लेता है, तब वहीं इन ध्वनियों को सुनने लगता है। यही प्राण और नाद आगे बढ़कर बिन्दु के साथ मिल जाते हैं।

नाद-योग : नाद-योग के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की विधि बहुत जटिल है। किस प्रकार योगी मुक्तासन में बैठकर शाम्भवी मुद्रा की सहायता से दाहिने कान में आनेवाली ध्वनि सुनता है और किस प्रकार षट्मुखी मुद्रा और प्राणायाम की सहायता से उस ध्वनि को बन्द करके सुषुम्ना-मार्ग से उस ध्वनि को सुनने लगता है, ये सब प्रक्रियाएँ सिद्ध गुरु ही बता सकता है। नाद किस प्रकार ब्रह्म-ग्रन्थि को भेद करके शून्य में और फिर विष्णु-ग्रन्थि को भेदकर अतिशून्य में और फिर रुद्र-ग्रन्थि को भेद करके महा-शून्य में इस ध्वनि को सुनता है और फिर किस प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र को भेद करके निष्पत्ति अवस्था को प्राप्त होता है और किस प्रकार पहले गम्भीर और फिर झीनी-झीनी ध्वनि सुनायी देने लगती है और फिर किस प्रकार नाद-रूपी जाल में मन-रूपी मृग फँसकर मारा जाता है; यह सब जटिल साधना का विषय है। जब तक लय नहीं हो जाता, तब तक ध्वनि सुनायी देती है। इस लय को प्राप्त करने के लिए शास्त्र में समाधि की अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। मन्त्र-योग द्वारा भी यह निष्पन्न होती है।

लय योग : धारणा : नाद का सुनना प्रत्याहार और धारणा नामक अंगों में बताया गया है। मन्त्र-योग में मन्त्रों का जप प्रधान रूप से किया जाता है और हठयोग में प्राणायाम। इसलिए धारणा, लय योग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि प्राणायाम

सभी साधकों के लिए आवश्यक नहीं है। हठयोग की बहुत-सी प्रक्रियाएँ केवल अभ्यास-नैपुण्य के लिए ही की जाती हैं। जो साधक इन अभ्यासों के बिना भी कुण्डली-शक्ति जाग्रत करने में दक्ष है, उसके लिए ये क्रियाएँ अनावश्यक हैं।

परमा कला नाद-शक्ति ही है : जैसा कि पहले ही बताया गया है, कुण्डलिनी मूलाधार में सुषुम्ना के प्रवेशमार्ग में, जिसे ब्रह्म-द्वार कहते हैं, अपना मुँह बन्द करके स्थिर रहती है। यह पायु और शिश्न के मध्यवर्त्ती चतुरंगुल प्रमाण योनिकन्द में सो रही है। इसी कन्द से बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकली हुई हैं। बताया जाता है कि कुल-कुण्डलिनी शब्द-ब्रह्म है और सभी मन्त्र उसकी स्वरूप विभूति हैं। इसीलिए इसे मन्त्र-देवता कहते हैं और अक्षरमयी होने के कारण इसे मातृका भी कहते हैं। यह भी कहा जाता है कि वह इसलिए मातृका है कि वह तो सबकी माता है, पर उसे किसी ने जन्म नहीं दिया। वह विराट् ब्रह्माण्ड में व्याप्त जगत् चैतन्य-रूपा है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने के कारण वह समस्त देश में व्याप्त है और जगत् अर्थात् निरन्तर गतिशील चैतन्य होने के कारण वह समस्त काल में भी व्याप्त है। षट्चक्र-निरूपण में उल्लेख है कि,

तन्मध्ये परमा कलातिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा।
नित्यानन्दपरम्पराऽतिकुशला पीयूषधाराधरा।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद् भासया भासते,
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यं प्रबोधोदया॥

यह परमा कला नाद-शक्ति ही है। यही आदिशक्ति का रूप है। यह विद्या और अविद्या, दोनों शक्तियों को अपने वश में रखती है।

इसी कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए आसनों, कुम्भकों, बन्धों और मुद्राओं का अभ्यास किया जाता है, ताकि प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश करके ब्रह्म-रन्ध्र की ओर ऊपर उठे।

नाम सूक्ष्म, नामी स्थूल : इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि पंच-महाभूतों में से प्रथम दो, अर्थात् आकाश और वायु अभूत और बाकी तीन, अर्थात् अग्नि, जल और पृथ्वी भूत हैं। अभूतों में आकाश प्रधान है और भूतों में अग्नि। शब्द अर्थात् नाम आकाश का धर्म है और

रूप अर्थात् नामी तेज का धर्म है। इसलिए नाम सूक्ष्म है और नामी स्थूल। इसीलिए 'हठयोग-प्रदीपिका' में यह कहा गया है कि जो कुछ सुना जाता है, वह शब्द के रूप में शक्ति ही है, किन्तु परमेश्वर सब तत्त्वों से परे है; क्योंकि शब्द सूक्ष्म होने पर भी वस्तुतः स्थूल अमूर्त्त तत्त्व का ही धर्म है। इस प्रकार शब्द-ब्रह्म सृष्टि-क्रिया में प्रवृत्त होने के समय अपने को दो रूपों में अभिव्यक्त करता है—प्रथम शब्द के रूप में, जो पहले अनुभूति के ग्राहक के रूप में चित्त में स्पन्दित होता है और फिर इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल शब्द के रूप में प्रकट होता है; दूसरा अर्थ, जो शब्द द्वारा अनुध्यात रूप को मन में उपस्थित करता है। ये दोनों ही उस चित्-शक्ति के कार्य हैं, जिसे वाक् देवी कहते हैं। यह वाक् ईसाई सन्तों के लोगोस या शब्द से मिलती-जुलती है। इसी बात को दृष्टि में रख करके काली को पचास या कभी-कभी इक्यावन नरमुण्डों की माला धारण करने-वाली बताया गया है। ये पचास या इक्यावन मुण्ड संस्कृत-वर्णों की संख्या-मात्र हैं। काली वाक्-देवता का या मूल चित्-शक्ति का वह रूप है, जो उसकी कालगत प्रक्रिया को अभिव्यक्त करता है। पचास अक्षर उसी की अभिव्यक्ति हैं और महा-प्रलय के समय वे अक्षर उसी के स्वरूप में लीन हो जाते हैं। शब्दब्रह्म प्राणिमात्र में स्थित चैतन्य के सिवा और कुछ नहीं है। यही चैतन्य शब्द और अर्थ के रूप में अभिव्यक्त होकर जगत्-सृष्टि का हेतु है। यही चित-रूपा शक्ति प्राणि-मात्र में कुण्डली के रूप में स्थित है और अपने आपको वर्णात्मक शब्द में अभिव्यक्त करती रहती है। 'शारदा-तिलक' में कहा है :

शब्दब्रह्म

चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्॥
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥

मिथुन भाषा : शाक्त लोग प्रायः सृष्टि के लिए मिथुनपरक भाषा का प्रयोग किया करते हैं। चूँकि मूल में परब्रह्म निश्चेष्ट और निःस्पन्द है, केवल शक्ति सक्रिय होकर शब्द-ब्रह्म को उत्पन्न करती है, इसलिए इस क्रिया को स्थूल मैथुनी सृष्टि की भाषा में प्रकट करने के लिए महाकाल

और महाकाली की विपरीत रति का, जिसमें महाकाल निश्चेष्ट है और महाकाली सक्रिय है, रूपक बाँधते हैं। इसी प्रक्रिया को समझाने के लिए विन्दु शब्द का प्रयोग किया जाता है। विन्दु शुक्र का प्रतिरूप है। यही बिन्दु प्रकृति या महाशक्ति के गर्भ में पालित होकर कुण्डली के रूप में प्रकट होता है। पूरे रूपक को मानस-दृष्टि से समझने का ही प्रयत्न करना चाहिए। वस्तुतः विन्दु शक्ति की क्रियाशील होकर अग्रसर होने की अवस्था है। कुण्डली-शब्द मातृका का रूप है। इसीलिए तन्त्र-ग्रन्थों में कुण्डली को महामातृका सुन्दरी कहा गया है, जो इक्यावन वर्णों के रूप में कुण्डलित है। पहले ही बताया गया है कि मातृका स्थूल शब्द का सूक्ष्म रूप है। कुण्डली में जब एक वलय या एक कुण्डल होता है तब वह विन्दु कहलाती है, और जब उसमें दो वलय होते हैं, तब वह प्रकृति-पुरुष कहलाती है और जब उसमें तीन वलय होते हैं, तब इच्छा, ज्ञान और क्रिया-रूपिणी शक्ति या फिर सत्त्व, रज और तमस् गुण-त्रयी शक्ति कहलाती है। यहाँ तक वह सांख्यों द्वारा कहे हुए 'न-प्रकृति-न-विकृति' रूप में रहती है, लेकिन जब वह साढ़े तीन वलयों में वलयित होती है, तब वह विकृति के साथ वास्तविक क्रियाशील होती है। जब वह चार वलयों में वलयित होती है, तब उसे एक-जटा देवी कहते हैं। 'शक्ति-संगम-तन्त्र' के उत्पत्ति खण्ड में इन वलयों की विस्तार से चर्चा की गयी है। जब वह इक्यावन वलयों से वलयित या कुण्डलित होती है, तब शक्ति-संगम-तन्त्र उसे श्रीमातृकोत्पत्ति सुन्दरी कहता है। इस तरह सबसे निचले मूलाधार चक्र से वह ऊपर उठती है और क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाक् में अपने को अभिव्यक्त करती है। आरम्भ में वह परमा-कला अम्बिका रूपा परा-वाक् है। उस समय वह शान्त-स्वरूपा है। प्रथम क्रियाशील होने पर वह मानो रूप का साक्षात्कार

विपरीत रति

सृष्टि का मैथुनी रूपक

एकवलया कुण्डली (विन्दु)

द्विवलया

त्रिवलया

सार्द्धत्रिवलया

चतुर्वलया (एकजटा)

पंचाशद्वलया

करती है, इसीलिए उसका नाम पश्यन्ती है। जब पश्यन्ती रूप में होती है, तब वह इच्छा-शक्ति का प्रतीक है; क्योंकि उस समय ब्रह्म की उस इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें वह प्रथम सोचता है कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ। यही इच्छा-शक्ति विन्दु में अंकुश-रूपा होकर विराजमान है।

पश्यंती का अर्थ

अंकुश-रूपा इच्छा-शक्ति

अंकुश-रूपा इसलिए कहा गया है कि वह स्पन्द की प्रथम अवस्था है। गति आने के पहले जो एक प्रकार की वक्रता होती है, जो प्राणि-मात्र में परिलक्षित है, उसी अवस्था को सूचित करने के लिए इच्छा-शक्ति को अंकुश-रूपा कहा गया है। इसीलिए इस शक्ति को वामा अर्थात् कुटिला अंकुश-रूपा भी कहते हैं। मध्यमा के रूप में अभिव्यक्त होने पर वह ऋजु रेखा के रूप में प्रकट होती है। यही ज्ञान-शक्ति का स्वरूप है। इस प्रकार इच्छा-शक्ति ज्ञान-शक्ति अंकुश-रूपा है और ऋजुरेखा-रूपा है। इसे ही ज्येष्ठा कहते हैं। वामा और ज्येष्ठा शब्द भी तान्त्रिकों के द्वारा प्रयुक्त ऐसे शब्द हैं, जिनको साधारण गृहस्थ सहज ही हृदयंगम कर सकता है। वामा शिव की वह शक्ति है, जिसमें यौवन का उद्रेक हुआ है और ज्येष्ठा वह शक्ति है, जो पति के साथ दीर्घ सम्पर्क के बाद सहज हो गयी है। यह सृष्टि-प्रक्रिया की दो अवस्थाओं का नाम है। वामा में लीला की वक्रिमता का प्राधान्य है, ज्येष्ठा में गृहिणी की ऋजुता का।

वामा-कुटिला

ज्ञानशक्ति ऋजु-रूपा

ज्येष्ठा

मातृका : इसी अवस्था में वह मातृका का रूप ग्रहण करती है और उसमें विशेष स्पन्द होता है और वह वैखरी वाणी के रूप में अभिव्यक्त होती है। इस अवस्था को क्रिया-शक्ति (जो रौद्री देवी है) कहते हैं। उसका रूप त्रिकोणात्मक है। वस्तुतः उसको शृंगारक अर्थात् सिंघाड़ा अर्थात् धन-त्रिकोण-रूपा कहा गया है। यह शब्द इसलिए प्रयुक्त जान पड़ता है कि यहाँ से लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई या गहराई इन तीनों दिशाओं की ओर गतिशील स्थूल सृष्टि का आरम्भ होता है। वस्तुतः शृंगारक

कहकर संसार के तीनों डाइमेंशनों का उल्लेख कर दिया गया है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि मध्यमा में स्थित ज्ञान-शक्ति-रूपा ज्येष्ठा शक्ति ही मातृका अर्थात् स्थूल अक्षरों के सूक्ष्म रूप की अभिव्यक्ति करती है, अर्थात् यह अन्तिम रौद्री देवी अर्थात् क्रिया-शक्ति स्थूल शब्दों की अभिव्यंजिका है। इसलिए कुण्डली को पचास या इक्यावन वाणी के रूप में कुण्डलित कहा गया है। षट्चक्रों में इन्हीं वर्णों की स्थापना की गयी है। उद्बुद्ध कुण्डलिनी इन्हीं अक्षरों के वलय को छोड़कर सूक्ष्म परा-वाक् के रूप में प्रकट होती है। इसीलिए वह समस्त मन्त्रों की स्थूल और सूक्ष्म आधार है।

इन सब बातों का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि शाक्त साधकों की भाषा ऊपर से जितनी स्थूलार्थबोधिनी दिखती है, उतनी वास्तव में है नहीं। अनेक देवताओं और उनकी शक्तियों के जो सहस्र-सहस्र ध्यान और धारणाएँ बतायी गयी हैं, वे क्रियाशील परा-शक्ति के विभिन्न रूप हैं। सच्चा साधक उसके कोटि-कोटि रूपों को देख और समझ सकता है। उन रूपों को स्थूल वैखरी भाषा में प्रकट करके वह दूसरे साधक की सहायता करता है। अपने द्वारा साक्षात्कृत तत्त्वों को उनके बीज के द्वारा मन्त्र-रूप में भी परिणत कर सकता है। केवल कम पढ़े-लिखे अधकचरे लोग ही उन शब्दों द्वारा आनीत अर्थ को और उनके सूक्ष्म हेतु-तत्त्वों को जाने बिना उसे रटते रहते हैं। जो साधक उसके वास्तविक तत्त्वों को समझता है, उसके लिए परा-शक्ति के क्रियाशील होने की अवस्था की विभिन्न परिणतियों के सैकड़ों नाम और रूप कथा ध्यान की कल्पना हो या न हो, कोई मतलब नहीं रखते। यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि इस महान् बौद्धिक और आध्यात्मिक तत्त्ववाद को भुलाकर उसकी स्थूल कल्पनाओं को ही धीरे-धीरे अधिक महत्त्व दिया जाने लगा और सारी साधना अर्थहीन जंजाल-जैसी दिखने लगी।

इसी से सन्त-साधकों ने इसे ग्रहण किया और सहारा दिया। सैकड़ों नाम और रूपों के प्रपंच को उन्होंने व्यर्थ घोषित किया ओर मूल तत्त्व को पकड़ने की कोशिश की—मूल तत्त्व अर्थात् वह गुणातीत शक्ति, जिसकी अभिव्यक्ति क्रमशः स्थूल से स्थूलतर तत्त्वों की ओर होती गयी।

सन्तों ने सारे मन्त्र-जाल को समेटकर दो अक्षर के राम-नाम में निबद्ध कर दिया, और सारी यौगिक प्रक्रिया को सहज बनाकर सुरति या स्मृति तत्त्वों पर केन्द्रित किया। लय को उन्होंने रस्सी बनाया और सुरति या स्मृति को ढेकुली। इस प्रकार मन के द्वारा आनन्दरस को खींचने का रूपक बाँधा गया, जिसकी सुरति-रूपी ढेकुली सहायता करती है :

सुरति ढेकुली लेज लौ, मनुआँ खींचनहार !

और सुरति और लय का क्या अर्थ ?

सुरति-योग : जैसा कि मैंने पहले ही बताया है, सन्त लोगों ने बहुत-से पुराने शब्दों में नया अर्थ जोड़ा है। 'सुरति' शब्द पुराने स्मृति शब्द का अपभ्रंश है। स्मृति अर्थात् पुरानी बातों को याद करना। लेकिन इस स्मृति शब्द से जिस सुरति शब्द का विकास हुआ है, वह केवल स्मृति रूप नहीं है। उसमें प्रेम का भाव भी है। सुरति (सु-रति) केवल याद करने की बात नहीं है। याद तो किसी को कहीं भी किया जा सकता है। केवल स्मरण-मात्र से भक्त को सन्तोष नहीं हो सकता; स्मरण में प्रीति होनी चाहिए और रम जाने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। सुरति में इस प्रीति के भाव पर जोर दिया गया है। निरति संसार से विरक्त होना है। जब तक बाह्य जगत् से वैराग्य न हो, तब तक अन्तःस्थित परम प्रेयान् के साथ 'सुरति' नहीं चल सकती। निरति बाह्य विषयों के प्रति अनास्था और वैराग्य को सूचित करती है और सुरति आन्तर विषयों के प्रति आसक्ति। इस प्रकार स्मृति-वाचक सुरति शब्द में नवीन अर्थों को जोड़ा गया है। इसी प्रकार लय शब्द, जिसकी चर्चा हम लय-योग में कर चुके हैं, सन्तों की बोली में बदला है। लय शब्द का 'लौ' बन गया है। भव शब्द का तो 'भै' बन गया, किन्तु लय शब्द का 'लौ'। स्पष्ट ही केवल ध्वनि-विकार-सम्बन्धी नियम यहाँ काम नहीं कर रहे हैं। लय शब्द को लौ के साथ जोड़ देने में कुछ रहस्य है। लौ अर्थात् दीप-शिखा। निवात निष्कम्प दीप-शिखा जिस प्रकार पूर्ण शान्त और ऊर्ध्वमुखी होती है, उसी प्रकार जब साधक अपने में आप ही विलीन होकर शान्त और स्थिर हो जाता है, उस अवस्था का नाम लय या लौ है। लौ शब्द में बाह्य विषयों की असम्पृक्तता का भाव भी आ गया है। इस प्रकार पुराना लय शब्द लौ बनकर उस विशिष्ट

ध्यान का वाचक हो गया है, जो बाह्य विषयों से असम्पृक्त चित्त को प्रेमोन्मुख करता है। इसीलिए उसे सुरति का सहायक माना गया है।

अब यदि एक बार शान्तिपूर्वक विचार कर देखा जाये, तो सुरति और लौ शब्द का अर्थ बहुत स्पष्ट हो जायेगा। शाक्त साधकों के जटिल रूप-विधान और मन्त्र-विधान के साथ इसकी तुलना करके देखें, तो स्पष्ट पता चलेगा कि जिस बात को वे लोग कहना चाहते हैं, उसी बात को सन्त लोगों ने भी कहा है; परन्तु उसे सहज ग्राह्य और सरस बनाकर। हृदय-गुहा में स्थित परम प्रेयान् की प्रीति के रस को जिस ध्यान से और जिस स्मृति से प्राप्त किया जा सकता है, वह सहज, सरस और समझ में आने योग्य है। नाथ-साधकों के साहित्य में भी यह शब्द आ जाता है और यद्यपि तत्त्वतः वह भी क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर जानेवाली स्मृति को ही सूचित करता है, तथापि कबीरदास द्वारा प्रयुक्त सुरति शब्द की स्निग्धता और प्रीति-भाव उसमें नहीं है।

बौद्ध शास्त्रों में सैंतीस बोधि पाक्षिक धर्मों की चर्चा आती है। शान्ति भिक्षुजी ने बताया है कि वसुबन्धु ने उनकी संख्या को दश के भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है। इन सैंतीसों में चार स्मृत्युपस्थान मुख्य हैं। अनुरुद्ध ने स्मृति के अन्तर्गत स्मृत्युपस्थानों को समझा है। ('अभिधम्मत्थ संग्रह' 7.34)। वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा में गिना है (प्रज्ञा हि स्मृत्युपस्थितिः, 'अभिधम्म कोश' 6.68)। वसुबन्धु की दृष्टि ज्यादा पैनी है। स्मृत्युपस्थान स्मृति-रूप नहीं हैं, प्रत्युत स्मृति द्वारा उपस्थित प्रज्ञा या ज्ञान है। शरीर, मन, अनुभूतियों तथा संसार के आभ्यन्तरिक और बाह्य पदार्थों को बुद्धिवादी जो कुछ समझता है, उसको बराबर स्मृति द्वारा उपस्थित रखना, उन्हें न भूलना, बस इसी का नाम स्मृति का उपस्थान है। इसमें इस तरह दो वस्तुएँ हुईं—एक तो स्मृति और दूसरी स्मृति का विषय। यदि विषय को स्मृति से अलग कर दें, तो विषय-रहित स्मृति का कुछ भी मूल्य न रहेगा और कदाचित् इसीलिए विषय को प्रधान मानकर वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा कहा है। अनुरुद्ध ने विषय को गौण मानकर स्मृत्युपस्थानों को स्मृति-रूप कहा है। 'महासति पट्ठान सुत्त' में ('बुद्धचर्या', पृ. 118) इनका बड़े विस्तार से वर्णन किया

गया है। यहाँ बतलाया गया है कि काम, वेदना (अनुभूति), चित्त (मन) और धर्म (मानसिक और भौतिक जगत्) को किस प्रकार समझना चाहिए।

'बोधिचर्यावतार' में शान्तिदेव ने स्मृति-रज्जु का बड़ा अच्छा वर्णन किया है। यह स्मृति-रज्जु सन्त-साधकों के सुरति-डोर शब्द का पूर्ववर्त्ती रूप है। शान्तिदेव ने कहा है कि चारों ओर से यदि चित्त-रूपी हस्ती स्मृति-रूपी रज्जु से बाँध लिया गया, तो फिर समूचा भय दूर हो जाता है, कोई भय नहीं रहता और सभी कल्याण प्राप्त हो जाते हैं :

बद्धश्चेच्चित्तमातंगः स्मृतिरज्वा समन्ततः।
भयमस्तंगतं सर्वं कृत्स्नं कल्याणमागतम्॥

शान्तिदेव ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की है कि जो लोग अपने चित्त को स्थिर रखना चाहते हैं, उन्हें स्मृति और सम्प्रजन्य की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए :

चित्तं रक्षितु कामानां मयैष क्रियतेऽञ्जलिः।
स्मृतिं च संप्रजन्यं च सर्वं यत्नेन रक्षत॥

इस प्रकार यह स्मृति शब्द बहुत पुराना है और साधकों में इसका प्रयोग भी बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। लेकिन मध्य-युग के साधकों तक आते-आते उनमें कुछ विशेषता आ गयी है। कई प्रकार से उस प्रीतिस्निग्ध तत्त्व को समझाने का प्रयोग मिलता है। मूल-तत्त्व से अपरिचित रहने से ये बातें प्रहेलिका-जैसी लगती हैं। उदाहरणार्थ, कभी तो यह कहा गया है कि निरति सुरति में विलीन हो जाती है और कभी यह कहा गया है कि सुरति निरति में विलीन हो जाती है। फिर प्रथम और द्वितीय सुरति की भी बात कही गयी है। मूल बात यह है कि साधक को उस पुरानी प्रक्रिया का स्मरण करना चाहिए, जिससे सूक्ष्म शब्द क्रमशः स्थूल होता हुआ समस्त पद और पदार्थों में अभिव्यक्त हो रहा है। यही सुरति उस वास्तविक तत्त्व का साक्षात्कार करा सकती है। इसकी स्थिति यदि पहले स्वीकार कर ली जाय अर्थात् यह मान लिया जाय कि पहले बौद्धिक दृष्टि से उसे इन प्रक्रियाओं का साक्षात्कार होता है और फिर उसे जगत्-प्रपंच से वैराग्य होता है, तो कहा जा सकता है

कि सुरति निरति में विलीन हो गयी; पर ऐसी अवस्था में परम-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता। केवल वैराग्य-मात्र पर्याप्त नहीं है। अन्तरतर में बैठे हुए परम-देवता के साथ जब तक प्रीति-सम्बन्ध का भाव उदित नहीं होता, तब तक सिंह-द्वार बन्द ही रहेगा और उस महा-प्रेमिक के अन्तःपुर में प्रवेश करना कठिन ही रह जायेगा। इसीलिए सिंह-द्वार का खुलना आवश्यक है। यह दूसरी सुरति है :

सुरति समाणी निरत मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुले स्यंघ दुवार॥

इसी प्रकार यदि दूसरी सुरति को ही प्रधान मान लिया जाय, तो कहा जा सकता है कि सुरति निरति में प्रवेश कर गयी। सन्तों के साहित्य में इस प्रकार की उक्तियाँ बहुत मिलेंगी, जिन्हें मूल तत्त्व के समझे बिना अटपटी, बेतुकी और निरर्थक मान लिया जा सकता है। अस्तु।

सुरति-योग : प्रेम-साधना : अब तक हमने योग-प्रथित साधनाओं का जो रूप देखा है, वह नाना भाव से एक ही विषय की ओर संकेत करता है। मनुष्य के प्राण (अर्थात् वायु), वाक्, मन और बुद्धि बहिर्मुख हैं; उन्हें अन्तर्मुख करके साम्यावस्था में ले आना ही योग है। संसारभर के जीव इस बहिर्मुख प्रवृत्ति में उलझे हुए हैं। उस बहिर्मुखी प्रवृत्ति से उन्हें बचना है, तो धारा को उलटना होगा। जो बहिर्मुख है, वह अन्तर्मुख होने पर ही धन्य हो जाता है। सारा भ्रमजाल और कर्म-कोलाहल इस बहिर्मुखी वृत्ति का परिणाम है। यही समस्त दुःख और क्लेश का हेतु है। इससे निरत होकर अन्तर्मुख होने की प्रवृत्ति का नाम ही निरति है। अन्तर्मुखी वृत्ति निरति है और भीतर पैठने का और मन और पवन को समरस में स्थि... करने का नाम समाधि है। योगी यहीं आकर रुक जाता है। शुद्ध चैतन्य अपने को 'केवल' चैतन्य के रूप में उपलब्ध कर ले तो उसे 'कैवल्य' प्राप्त हो जाता है। परन्तु क्या सारी साधना का आडम्बर इतने के लिए ही है? क्या चित् का वह अहेतुक औत्सुक्य, जो मनुष्य को इतना कुछ करने के लिए यत्नशील बनाता है, सिर्फ इसीलिए है कि समझ लिया जाय कि वह कुछ नहीं था? यह अकारण अहेतुक उल्लास किसी और गहरी बात की ओर इंगित नहीं करता? कब तक टिकेगी यह निराधार, निरर्थक

समाधि ? जन्म-मरण का यह चक्र, कर्म और भ्रम का यह जंजाल क्या इतना ही कमजोर है कि सिर्फ 'केवल' चिन्मात्र की उपलब्धि के बाद निरस्त-तेज हो जायेगा ? सन्तसाधक कहता है कि यहीं रुकना खतरे से खाली नहीं। और गहराई में कोई प्रेमी है, उसे पहचानना आवश्यक है। उसे जब तक नहीं पहचाना जाता, तब तक योग अधूरा है। उनमनि की तारी टूटते ही फिर संसार का बन्धन नीचे की ओर खींचता है। 'सुरति' मूल रूप में स्मरण या स्मृति ही है, पर स्मृति किसकी ? अन्तरतर में बैठे हुए किसी परम प्रियतम की ? विरले ही योगी उसे पहचान पाते हैं। अगर निर्भय-निश्शंक भाव से उस आयासलभ्य और साधनागम्य परम प्राप्तव्य को पाना है, तो सुरति को प्रेम-रूपा बनाना होगा। अगर उस प्रिय की सुरति (स्मृति) से सुरति (सुरति-परमाप्रीति) नहीं प्राप्त होती, तो जन्म और मरण का भय बना रहेगा। निरति निराधार है, सुरति साधार है। निरति और सुरति का, या प्राण-मन को अन्तर्मुख करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। वह लक्ष्य है प्रिय-समागम। योग-साधना केवल पाँच इन्द्रियों, मन और प्राण के बहिर्मुख होने की रोक है। सही लक्ष्य है प्रिय-समागम। उस प्रिय की पुकार का ही फल है कि मनुष्य साधना-मार्ग की ओर अग्रसर होता है :

कर्म और मर्म संसार सब वस्तु है,
पीव की परख कोइ सन्त जानै।
सुरत और निरत मन पवन को पकरि कै,
गंग औ जमुन के घाट आनै।
पाँच को नाथ करि साथ सो-हं लिया,
अधर दरियाव का सुक्ख मानै।
कहै कबीर सोइ सन्त निर्भय भया,
जन्म औ मर्न का मर्म मानै।

सुरति-साधना स्थायी सिद्धि—प्रीति—प्रदान करती है।

लेकिन बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। योग-साधना हमें शब्द और अर्थ की गहराई में ले जाती है। यह समूचा चराचर जगत् अर्थ है, पदार्थ है। उसके मूल में शब्द है। ठीक है, पर अर्थ क्या केवल अर्थ है ?

वह अपने-आपमें क्या कोई भाषा नहीं है ? यह जो प्रातःकाल सूर्य की रश्मियाँ सोना बरसा देती हैं, चन्द्र-किरणें शाम तक रजतधारा में धरित्री को स्नान करा देती हैं, ये क्या केवल अर्थ हैं ? ये क्या कुछ कह नहीं जातीं ? किसके लिए यह आयोजन है ? इतना रंग, इतना राग, इतना छन्द, इतनी व्याकुलता, जो जगत् में प्रतिक्षण उद्‌भासित हो रही है, वह क्या निरर्थक अर्थ-मात्र है ? वीज जब अंकुररूप में फटता है, तब क्या चराचर में व्याप्त उल्लास की वेदना के साथ ताल नहीं मिलाता रहता ? रात को आसमान में जो इतनी लालटेनें निकल पड़ती हैं, वे क्या निरर्थक हैं ? किसी को खोजने की व्याकुल वेदना क्या उनमें नहीं सुनायी पड़ती है ? कवि जो भाषा सुना करता है, वह क्या केवल पागल मन का विकल्प-मात्र है ? जो लोग अपने को विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी घोषित करते हैं, वे क्या सबका ठीक-ठीक मतलब समझा सकते हैं ? कौन बतायेगा कि रम्य वस्तुओं के वीक्षण से, मधुर शब्दों के श्रवण से चित्त में पर्युत्सुकी भाव क्यों आ जाता है ? मनुष्य का हृदय साक्षी है कि ये पदार्थ भी भाषा हैं, इनका भी कुछ अर्थ है। जगत्, जो इतना रागमय है, छन्दोमय है, वर्णमय है, ध्वनिमय है, वह व्यर्थ है ? नहीं। 'व्यर्थ' अर्थात् अर्थ-शून्य, निरर्थक। इस दृश्यमान चराचर का भी अर्थ है, इस भासमान तरंग-साम्य का भी मतलब है। योगी नहीं बताता कि अन्तरतर से छन्द के प्रति, राग के प्रति, रंग के प्रति जो इतना व्याकुल कम्पन उठा करता है, वह परा-शक्ति की किस विलास-लीला की अभिव्यक्ति है। गहराई में कहीं कुछ छूट गया है। हठयोग और नादयोग उसे नहीं बता पाते। कहीं-न-कहीं अनुराग-योग का भी व्याकुल कम्पन और आत्मनिवेदन मानव-हृदय के अन्तरतर में विलसित हो रहा है। वाल्मीकि को जब 'छन्द' का साक्षात्कार हुआ था, तब उन्हें यह व्याकुल वेदना अनुभूतिगम्य हुई थी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी एक कविता में उस वेदना को भाषा दी है। उसका कुछ अंश मैंने हिन्दी में रूपान्तरित किया है। मेरे अनुवाद में कविता का पूर्ण रस नहीं आ पाया है, पर वह जैसी भी है, आपके सामने उपस्थित करता हूँ। नारदजी को सम्बोधन करके वाल्मीकि मुनि ने कहा था :

"हाय, भाषा मनुज की है बँधी केवल अर्थ के दृढ़ बन्ध से,
चक्कर लगाती है सदैव मनुष्य को घेरकर। अविराम बोझिल
मानवीय प्रयोजनों से क्षीण हो आया गिरा का प्राण है,
उसके परिस्फुट तत्त्व देते बाँध सीमा में चरण को भाव के।
इस धूलितल को छोड़ बिल्कुल ही न उड़ सकती नवल संगीत-सम
उन अर्थ-बन्धनहीन अपने सप्त स्वर के सप्त पंखों को अबाध
पसार विपुल व्योम में निर्द्वन्द्व अपराधीन।
"प्रातःकाल की यह शुभ्र भाषा वाक्य-बन्धन-रहित जो
प्रत्यक्ष किरणें हैं कि वे क्षण-मात्र में ही खोल देतीं इस जगत
के मर्म-मन्दिर-द्वार को, होता प्रकट त्रैलोक्य के नवगीत का भण्डार
और विभावरी आच्छन्न कर देती पलक गिरते अपार अनन्त जग
को शान्ति की निज ललित भाषा से, कि उसका वाक्यहीन
निषेध अपने मन्त्र-बल से शान्त कर देता जगत के खेद, दारुण
क्लान्ति, कठिन प्रयास, क्षण में भेद जग के मर्म, कोलाहल-जनित
काठिन्य को, लाता विपुल आभास शामक मरण का नर लोक
में। नक्षत्र की निश्चल गिरा निर्धूम अग्नि समान देती है स्वयं
की सूचना ज्योतिष्क-सूचीपत्र पर आकाश में, दक्षिण समीरण
की गिरा केवल तनिक विश्वास के बल पर जगाती है नवल आशा
निकुंज में, है बैठ जाती भेद दुर्गम दुर्ग पल्लव-राजि का
दुस्तर अरण्यान्तःपुरी में अनायास अबाध, यौवन की विजय गाथा
वहन करती सुदूर दिगन्त तक; वैसा सहज आलोक दुर्लभ है मनुज के
वाक्य में, इसमें कहाँ आभास सीमाहीन मिलता है, कहाँ वह
अर्थभेदी, अभ्रभेदी गीत का उल्लास, मिलता कहाँ आत्मविदीर्णकारी
तरलतर उच्छ्वास ?
"मानव वाक्य की इस जीर्ण काया बीच मेरा छन्द भर दे
एक नूतन प्राण, उसको अर्थ-बन्धन से छुड़ा ले जाय—ऊपर भाव के
स्वाधीन मोहक लोक में दृढ़ पक्षधारी अश्वराज समान द्रुत उद्दाम
शोभन वेग से, यह है हृदय की साध। मुनि, जिस तरह है यह
अग्नि की उद्दीप्त नौका नित्य अपनी गोद में ले सूर्य-मण्डल को

उतार रही नियत इस पार से उस पार विपुल व्योम सागर-बीच,
मेरा छन्द भी उस अनल-नौका सदृश ढोये विमल महिमा मनुज की
दिक् प्रान्त से दिक् प्रान्त तक। मैं दान करना चाहता हूँ
बद्ध मानव वाक्य को यह दीप्त गतिमय छन्द—ऐसा हो कि
यह उन्मुक्त होकर संचरण कर सके जग की क्षुद्र सीमा-राशि,
लेवे खींच इस गुरुभार पृथ्वी को गगन की ओर, ले फिर खींच
बन्धन-जड़ित भाषा को मनोहर भावरस की ओर जो है देवपीठ-
स्थली मानव-जाति की। जिस भाँति बाँधा है महाम्बुधि ने
धरित्री को समावृत कर निरन्तर गान, अविरत नृत्य से, यह छन्द
मेरा भी उसी ही भाँति आलिंगन, जड़ित कर युग-युगान्तर को सहज
गम्भीर कलरव से प्रचारित करे मानव काअपार अतुल महिम्न स्तोत्र,
दे महनीय मर्यादा भुवन में इस क्षणस्थायी विरस नरजन्म को।
"हे देवदूत मुने, पितामह के चरण में यह निवेदन करो
मेरी ओर से, यह स्वर्ग से जो आ गयी है परमनिधि नरलोक को,
उसको न अब ले जायँ लौटा फिर वहाँ। वह जो अपरुष छन्द
हमको मिला, उसने देवता को है मनुज कर दिया, मैं चाहता
हूँ देवत्व पद पर उठा देना क्षुद्र मानव को, उठाना चाहता हूँ
इस धरा पर स्वर्ग का प्रासाद।"

मधुरोपासना

मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्

यह सारा व्यक्त जगत् सीमा और असीम की क्रीड़ा-भूमि है, शिव और शक्ति का लीला-निकेतन है और अगुण और सगुण का मिलन-क्षेत्र है।

सीमा और असीम की लीला

एक तत्त्व है, जो अनन्त की ओर गतिशील है। दूसरा तत्त्व है, जो उसको सीमा की ओर खींच रहा है। इसीलिए यह सारी सृष्टि रूपायित हो रही है। रूप क्या है ? अरूप गतिमय असीम को सीमा में उपलब्ध करने का परिणाम। गति असीम है, तालों में बँधने पर वह सीमित हो जाती है। सीमा और असीम के इस द्वन्द्व को ही हम नृत्य के रूप में उपलब्ध करते हैं; स्वर अनन्त है, छन्द उसको सीमा में बाँधने का प्रयत्न है। छन्द, लय, ताल इत्यादि के बन्धनों में बँधा हुआ स्वर ही हमें काव्य और गान के रूप में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार शब्द असीम है, अपार है। अर्थ के द्वारा उसे हम भाषा में बाँधने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ देखो, इस सीमा और असीम की केलि-लीला दिखायी दे रही है। मध्य-युग के सन्तों और भक्तों ने नाना भाव से इस तत्त्व को हृदयंगम किया है। किसी ने शिव-शक्ति के रूप में, किसी ने प्राण-अपान के रूप में, किसी ने चित्-अचित् के रूप में इस द्वन्द्व को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। जीव सीमा से बँधा हुआ है; वह प्रत्येक वस्तु को नाम और रूप की सीमा में बाँधकर देखना चाहता है, यही उसके लिए सहज है। भक्तों ने इसी अध्यात्म-तत्त्व को सहज भाषा में कहने का प्रयत्न किया है। मनुष्य के इस शरीर में वह ब्रह्माण्डव्यापी लीला चला करती है। इस ब्रह्माण्ड की इस विश्व-व्यापी लीला को ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति, अलेख और लेख, राम और जानकी, कृष्ण और राधा की लीलाओं के रूप में ग्रहण किया गया है। जीव इन नाम-रूपों के माध्यम से अनाम और अरूप को स्मरण करता है और प्राप्त करता है। दूसरा रास्ता नहीं, यही सहज

मार्ग है। इसी मार्ग से चलता हुआ साधक नाम और रूप के बन्धन से छूटकर स्वयंरूप हो रहता है।

विशुद्ध आनन्द की झलक : यह क्या कभी सम्भव है कि ब्रह्म या राम, जिसे योगी शिव कहता है, जिसे वह अरूप और अनाम तत्त्व मानता है, उसे नाम और रूप के माध्यमों को छोडकर अन्य किसी माध्यम से ग्रहण किया जा सके? शायद नहीं। परन्तु अरूप तत्त्व किसी-न-किसी दिन उसे दिख अवश्य जाता है। माता प्यार से जब अपने पुत्र को चूमती है, तब विशुद्ध आनन्द की झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निश्शेष भाव से आत्मसमर्पण करने की लालसा दिख जाती है, तब इस रूप को आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। विपत्ति में फँसे हुए असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को धधकती हुई अग्नि में, विस्फूर्जित तरंग वारि-धारा में या ऐसे ही किसी संकटापन्न स्थान में अनायास फेंक देने के उल्लास से चंचल हो उठता है, तब भगवान् के निर्मल-प्रेम रूप का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम और स्नेह में, दया, माया और त्याग-तप में उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य मिलता है। परन्तु रूप को आश्रय करके यह जो अरूप का प्रत्यक्षीकरण है, वह बड़ा ही क्षणिक होता है। हर उड़ान को धरती नीचे खींच लेती है, हर गति को सीमा अपने में समेट लेती है। यदि हम कमल के ठोस आधार के बिना भी उसकी प्रफुल्लता को हृदयंगम कर लेते, तो उस अनन्त,अपार, रूपहीन, सीमाहीन, अनवच्छिन्न (एक्स्ट्रैक्ट) अरूप तत्त्व को भी सीमा की सहायता बिना अनायास पा जाते :

हदै छाँड़ि बेहद गया, हुवा निरन्तर वास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरखै निज दास।

अरूप तत्त्व : इस दोहे में कबीरदास ने उसी अनाम, अरूप की ओर इंगित किया है। फूल के बिना क्या प्रफुल्लता की कल्पना की जा सकती है? सोचने से दिमाग में चक्कर आने लगता है। सूर्य के ठोस बिम्ब में जो ज्योति है, उसे क्या उस ठोस की कल्पना किये बिना ध्यान में लाया जा सकता है? बड़ी कठिन साधना है! जगत् में हम इस अनन्त ज्योति को, अनन्त प्रेम को, अनन्त प्रफुल्लता को देख अवश्य लेते हैं, परन्तु क्षण-

भर में वह विलीन हो जाता है। किस रूप में वह 'अरूप परम तत्त्व' नहीं झलक जाता ? प्रत्येक पिण्ड में वह मनुष्य को किसी-न-किसी रूप में दिख अवश्य जाता है। जिस क्षण दिखायी देता है, वह क्षण मनुष्य-जीवन का सबसे सार्थक, सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे उत्तम क्षण होता है। खोजनेवाला यदि कुछ अभ्यास करे, तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। सम्पूर्ण रूप तो उसी ज्योति से परिपूर्ण है। उस असीम को नित्य सीमा में देखा जा सकता है; देखने की दृष्टि होनी चाहिए :

दादू अलख अलाह का, कुछ ऐसा है नूर।
बेहद वाको हद नहीं, रूप-रूप सब दूर॥

सम्पूर्ण रूपों को परिपूर्ण करके वह वर्त्तमान है और सबसे ऊपर है। वेदों की भाषा में कहें, तो वह सबको व्याप्त करके भी सबसे दश अंगुल ऊपर रहता है—'स सर्वतस्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'—सबको व्याप्त करके सबसे ऊपर। यह कहने की एक पद्धति मात्र है। इसका भाव वही है, जो कबीर ने कहना चाहा था। यह रूप के छोटे-से अंश में झलक जानेवाली अनन्त सत्ता को अभिव्यक्त करने की एक शैली है।

प्रति क्षण, प्रति वस्तु में, प्रति क्रिया में उसे देखा जा सकता है। अभागे से अभागे मनुष्य के जीवन में कोई-न-कोई क्षण ऐसा आता है, जिसमें वह उस दिव्य ज्योति की झलक पा जाता है। प्रेम-स्निग्ध आचरण में उस महिमा की झलक मिल जाती है, कृतज्ञता के आँसू में वह अपार पारावार उमड़ आता है और प्रफुल्ल प्राणों में वह महासमुद्र हिलोरें लेते हुए देख लिया जा सकता है। परन्तु अज्ञ मनुष्य उसे हमेशा के लिए बाँध नहीं पाता। सब बन्धनों में विराजते रहने पर भी वह निर्बन्ध है, विराट् है, अरूप है।

क्यों नहीं उसे चिरकाल तक बाँधा जा सकता ? कबीरदास ने बड़े दुःख से कहा था—हाय-हाय, साधक-रूपी प्रिया जिस प्रेमिक को नित्य व्याकुल होकर खोजती फिरती थी, वही सौन्दर्य और प्रेम का आश्रय-स्थल आनन्द-मनोहर प्रिय उसे दिख गया। हाय री अभागिन, तू उसके चरणों में कसे लिपट जायेगी ? तेरे कपड़े तो गन्दे हैं और उस प्रिय का रूप निर्मल और पवित्र है, एक क्षण की हिचक और अनन्तकाल का वियोग !—

जा कारणि मैं ढूंढ़ता, सनमुख मिलिया आइ।
धण मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ॥

साधना आवश्यक है : यह जो ऊपरी आवरण की गन्दगी है, भीतर चित्त में जमी हुई मैल की किट्ट है, वही इस मिलन में बाधक है। साधना के द्वारा इसी मैल को दूर किया जाता है; अभ्यास के द्वारा चित्त की इसी गन्दगी को साफ़ किया जाता है; क्योंकि जिस समय वह दिखायी दे जाय और उसके चरणों की पग-ध्वनि सुनायी दे जाय, उस समय हिचक न हो। हिचक मानसिक और शारीरिक गन्दगी के कारण होती है। उसी को दूर करने के लिए नाना भाव के साधनों का अभ्यास किया जाता है। साधना का मतलब यह नहीं है कि जो परम प्रयान् तत्त्व है, उसे कहीं बाहर से ढूंढ़ा जाय। परम प्रेयान् तत्त्व तो भीतर भी है और बाहर भी। बाहर कल्पना करो, तो वह निरन्तर भीतर आने का प्रयास करता दिखेगा और भीतर कल्पना करो, तो वह निरन्तर बाहर प्रकाशित होता दिखायी देगा। कबीरदास ने कहा है :

मोकों कहाँ ढूंढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया-कर्म में, नहीं योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पलभर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में॥

—'कबीर', पृ. 230

परन्तु बाहर क्या, भीतर क्या ? क्या वह परम प्रेयान् भीतर नहीं है ? अवश्य है। कबीर ने कहा है कि यदि मैं कहूँ कि वह परम प्रेयान् भीतर है, तो बाहर का समस्त जगत् लज्जित हो रहता है। क्या बाहर जो कुछ है, उसकी चरितार्थता नहीं है ? क्या वह केवल 'है' और उसका होना निरुद्देश्य है ? प्रेम ही तो जीवन को चरितार्थ करता है। क्या समस्त बाह्य जगत् उस प्रेम से वंचित है, या किसी का होना-मात्र लज्जा का विषय नहीं है ? होने की चरितार्थता किसी के लिए होने में है। किसके लिए ? उसी अनन्त असीम प्रेमी के लिए, जिसके प्रेम की झलक प्रत्येक पिण्ड में किसी-न-किसी रूप में दिख जाती है। सो, अपने

भीतर ही उसे स्वीकार करना समस्त जगत् को लज्जित करने के समान है। समस्त जगत् की चरितार्थता को अस्वीकार करने के समान है। इसी प्रकार यदि कहा जाय कि वह सत्ता भीतर नहीं है, केवल बाहर ही है, तो अपने-आपको ही झूठा सिद्ध करना है।

नित्य निरन्तर उसकी पग-ध्वनि कानों को सुनायी दे रही है, किन्तु अपने ही चित्त की मलिनता के कारण कान रुद्ध हो जाते हैं। इसी बात को कहने के लिए रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि "अरे, तुम लोगों ने उस के चरणों की ध्वनि नहीं सुनी ? वह आता है, आता है, आता है" :

तोरा शुनिस नि कि शुनिस नि
तार पायेर ध्वनि, से ये आसे-आसे-आसे।

इसलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि भीतर नहीं है; यह झूठ है, यह अपने-आपकी चरितार्थता को अस्वीकार करना है। तो इस भाव को, इस बाहर और भीतर के भरने की स्थिति को, किसी सीमित वस्तु के आकार में देखा जा सकता है या पकड़ा जा सकता है ? कबीरदास का स्पष्ट उत्तर है—'नहीं'। वह दृष्टि का विषय नहीं है, मुष्टि का विषय भी नहीं। किन्तु यह प्रकट है कि कमल के ठोस आकार से भिन्न किन्तु उसी पर आश्रित, जो प्रफुल्लता है, वह गोचर है। निश्चित रूप से वह प्रकट है, पर उतना ही निश्चित रूप से आकार को छोड़कर अकल्पनीय है; अर्थात्, वह न तो इन्द्रियग्राह्य है और न मनोग्राह्य। वह समस्त चेतन और अचेतन में व्याप्त होकर और सबसे अलग होकर विद्यमान है :

ऐसा लो नहीं तैसा लो।
मैं केहि विधि कहौं अनूठा लो।
बाहर कहौं तो जग भय लाजै।
भीतर कहौं तो झूठा लो।
दृष्टि न मुष्टि, प्रगट अगोचर।
गुरु परतापैं दीठा लो।

'गुरु प्रताप' से मतलब है उस तत्त्व को, जो किसी भी रूप में झलक गया है, नित्य शुद्ध-बुद्ध आनन्दमय चिर सुन्दर रूप के साथ एक-एक करके देखने की दृष्टि देनेवाला उपदेष्टा। निरन्तर अभ्यास और साधना के द्वारा

यह दृष्टि प्राप्त होती है।

व्यापक संगति : जो व्यक्ति दीर्घ साधना और अभ्यास के द्वारा ऐसी दृष्टि प्रांप्त कर लेता है, वह समस्त रूपों में उस मनोहर कान्ति को देखने लगता है। दूसरों की दृष्टि में जो विकृति है, उसकी दृष्टि में उसमें भी प्रकृत तत्त्व दिखायी देता है। दूसरों की दृष्टि में जो अवैध, असंगत, अनियमित आचरण है, उसमें भी उसे विधि, नियम और संगति दिखायी देने लगती है; और दूसरों की दृष्टि में जो सीमा से बँधा हुआ है, ठोस रूप है, उसमें भी उसे अरूप और असीम तत्त्व दिखायी देने लगता है। जिस दिन ऐसी परिस्थिति आ जाती है, उस दिन साधक का जीवन चरितार्थ हो जाता है। शाक्त साधकों की भाषा में कहें, तो शुचिस्मिता त्रिपुरसुन्दरी, जिनके अंग-अंग से आनन्द की जोति छिटक रही है, जिनके प्रत्येक कटाक्ष-पात में स्नेह का पारावार उमड़ रहा है, जो आनन्दरूपा हैं, प्रसन्न हो जाती हैं :

यदा विकृतवस्तुषु प्रकृत दृष्टिरागच्छति,
ह्यधर्म इति धारणा भवति धर्मसंज्ञेऽन्वहम्।
अरूपगुणिता समुल्लसति रूपधर्मात्मके,
प्रसीदति शुचिस्मिता त्रिपुरसुन्दरी सा तदा॥

और इसी बात को यदि कबीरदास की भाषा में कहें, तो कहेंगे कि साधक घाट में अवघट देखता है और अवघट में घाट देखता है :

घट माँहे अवघट लह्या, अवघट माँहे घाट।
कह कबीर परचा भया, गुरू दिखाई बाट॥

सामरस्य : यह जो सीमा और असीम का द्वन्द्व है, वही सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। जिस दिन इस अरूप और रूप का परिचय हो जायेगा, जिस दिन इनका द्वन्द्व मिट जायेगा, दोनों समरस हो जायेंगे, वही परम चरितार्थता का दिन होगा। भाषागत विभिन्नता और जटिल रूपकों की कल्पना के अन्तराल में यह एक तत्त्व मध्य-युग के सभी भक्तों में दिखायी दे रहा है। इसी तत्त्व की उपलब्धि करने का साधन है समरसीकरण। नाथ-साधकों ने और शाक्त साधकों ने जो बात कही है, उसकी भाषा और साधना-प्रणाली में भेद है, फिर भी मूल तत्त्व वही है। अरूप

और रूप, अर्थात् शक्ति और शिव जिस दिन समरस होकर एकमेक हो जायेंगे, उस दिन यह सारा प्रतीयमान सृष्टिचक्र अपने-आप निश्शेष हो जायेगा। शक्ति कुण्डलिनी-रूप से देह में स्थित है और शिव भी सहस्रार-रूप से इसी पिण्ड में स्थित हैं। नाथ-साधकों ने कहा है कि वह जन्म-जन्मान्तरों के मल से दबी हुई है। यह वही भाव है, जिसे कबीरदास ने 'धण मैली' कहकर प्रकट करना चाहा है। नाथ और शाक्त साधकों का विश्वास है कि यदि मनुष्य गुरूपदिष्ट मार्ग में स्थित रहकर उसकी बतायी विधियों से निष्ठापूर्वक आचरित ध्यान और धारणा के बल से वायु को संयमित करे और नाड़ियों को शोधकर पवित्र करे, तो वह परम पवित्र सुषुम्ना-मार्ग खुल जाय, जिसके ब्रह्म-रन्ध्र को ढककर परमेश्वरी कुण्डलिनी सोयी हुई है। वस्तुतः यह सृष्टि ही कुण्डलिनी है। वह दो प्रकार की है, स्थूल और सूक्ष्म। साधारणतः स्थूल-रूपा कुण्डलिनी को ही लोग जान पाते हैं; अज्ञान के बोझ से दबे होने के कारण उसके सूक्ष्म रूप को नहीं जान पाते। सिद्धियाँ स्थूल कुण्डलिनी के ज्ञान से भी मिल जाती हैं, परन्तु सर्वोत्तम ज्ञानरूपिणी परा-संवित् जो साक्षात् महेश्वरी शक्ति है, उसको पहचाने बिना परम-पद नहीं मिलता[1]। शक्ति जब उद्‌बुद्ध होकर शिव के साथ समरस हो जाती है, इसी को 'पिण्डब्रह्माण्डैक्य' भी कहते हैं—तब योगियों के परमकाम्य कैवल्य अवस्थावाली सहज समाधि प्राप्त होती है, जिससे बढ़कर आनन्द और नहीं है। यह भी सब गुरु की कृपा से होता है, वेद-पाठ से नहीं, ज्ञान से भी नहीं, वैराग्य से भी नहीं। जो इस सहज समाधि-रूप परम विश्राम को पाना चाहे, वह अच्छे गुरु के चरण-कमलों की सेवा करे। उनकी कृपा होने से न परमपद ही दूर रहेगा

1. सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभागवता हि सा।
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता।
तस्या भेदं न जानन्ति मोहिताः प्रत्ययेन तु।
ततः सूक्ष्मा परासंवित्मध्यशक्तिर्महेश्वरी॥

—सि. सि. सं. 4.30-32

और न शिव-शक्ति का सामरस्य ही :

अनुबुभूषति यो निजविश्रमं—
स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात् परम पदं
समरसीकरणं च न दूरतः ॥

—सि. सि. सं. 558

यही सहज समाधि है । कबीरदास ने इसी को प्रकट करने के लिए कहा है :

साधो सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन तैं उपजी, दिन दिन अधिक चली ।
जहँ जहँ डोलों सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा ॥
जब सोवों तब करों दण्डवत, पूजों और न देवा ।
कहों सो नाम सुनों सो सुमिरन, खाँव-पियों सो पूजा ।
गिरह-उजाड़ एक सम लेखों भाव न राखों दूजा ।
आँख न मूदों कान न रूधों, तनिक कष्ट नहिं धारों ।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारों ।
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी ।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी ।
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट करि भाई ।
दुख सुख से कोइ परे परम पद, तेहि पद रहा समाई ।

सहज समाधि : अब इस सहज समाधि को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्ग हो सकते हैं। कुछ मार्गों की चर्चा हमने की है, परन्तु और भी सहस्रों मार्ग हैं । यदि इस मूल तत्त्व को ध्यान में रखा जाय, तो किसी मार्ग के समझने में बहुत कठिनाई नहीं होगी । जब किसी मार्ग का अनुयायी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य विषयों की सीमा में बँधी हुई किसी भी प्रक्रिया—मन्त्र, नाम, मूर्त्ति, ध्यान आदि—को अपने-आपमें ही चरम लक्ष्य मान ले, तो समझना चाहिए कि वह गलत रास्ते जा रहा है। मूल वस्तु है हृदयस्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में निरन्तर व्यक्त होते रहनेवाले परम प्रेमान् के वास्तविक, असीम,

अनन्त रूप को जगत् में अभिव्यक्त होनेवाली अन्यान्य वासनाओं, विद्याओं और कर्मों के साथ एकरूप करके देखने की योग्यता प्राप्त करना। बाकी सब साधन हैं। साध्य यही है। जिस साधन से भी यह स्थिति प्राप्त हो सके, वही स्वागत योग्य है। गुरु की कृपा से चित्त में उस परम प्रेयान् को पाने की व्याकुलता जग सकती है; परन्तु अनाड़ी गुरु साधन को ही साध्य बताकर मार्ग रुद्ध कर सकता है। इसलिए सहज-मार्ग तो यह है कि जब कभी संयोग या भाग्य से किसी रूप में वह अरूप सौन्दर्य झलक जाय, उसी क्षण उसे ही अपना गुरु मान लिया जाय। मानव-गुरु इस वास्तविक गुरु को प्राप्त कराने में सहायक हो सकता है। गुरु रूप में वह तब आता है, जब क्षणिक दर्शन के बाद भी चित्त में अद्भुत व्याकुलता उत्पन्न कर देता है। जिस दिन यह व्याकुलता आ जाय, जिस दिन एक क्षण का वियोग भी असह्य हो उठे, उसी दिन सच्चा प्रेमोदय समझना चाहिए। साधारण व्यक्तियों के सच्चे प्रेम में भी यह क्षण-दर्शनजन्य व्याकुलता और उसकी तड़प दिखायी दे जाती है। फिर वह व्यक्ति तो धन्य है, जो इस तत्त्व में रमा हुआ है और जिसे साहचर्य ही अधिक और वियोग ही कम मिलता है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी को देखकर पुरूरवा के चित्त में उत्पन्न हुई व्याकुलता से इस तत्त्व की ओर इंगित किया है। पुरूरवा उर्वशी से कहता है कि "हे सुन्दरि ! दैवयोग से एक क्षण के लिए भी तुम जिस मनुष्य के अबन्ध्य नयनों के सामने उपस्थित हो जाती हो, वह भी तुम्हारे लिए व्याकुल हो जाता है। फिर जो सखियाँ निरन्तर साथ रहने के कारण ही स्नेहार्द्र हैं, उनकी तो बात ही क्या है" :

सहज-मार्ग

यदृच्छया त्वं सकृदप्यबन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्—
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः॥

इसी प्रकार की व्याकुलता जिस दिन पिण्ड-स्थित शोभा या प्रीति को देखकर ब्रह्माण्ड स्थितशोभा और प्रीति के लिए उत्पन्न हो जाय, वही

दिन धन्य होता है। इस विरह के बिना मनुष्य का जीवन निष्फल है। जिस हृदय में यह प्रेम-व्याकुलता नहीं है, वह है भी तो क्या, नहीं भी है तो क्या ? वह श्मशान है। कबीर ने कहा है :

बिरहा बुरहा जिन कहौ, बिरहा है सुलतान।
जिस घटि विरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥

सच्चा गुरु इसी व्याकुलता को जगा देता है। इस प्रकार सांसारिक दृष्टि से जो व्यक्ति सुखी था, वह देखते-देखते असुखी और व्याकुल हो जाता है। यह सत्गुरु की कृपा है या कसकर मारा हुआ बाण ? इस शब्द की चोट से गुरु जब मारता है, तब उसका बाण हृदय को आर-पार करके वेध देता है। यही व्याकुलता साधना का वास्तविक आरम्भ है। जिसे गुरु का बाण लग जाता है, वह व्यवहार की दुनिया से समाप्त ही हो जाता है। बड़ी जबरदस्त चोट होती है यह :

सतगुरु मार्‌या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि,
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि।
मार्‌या है जे मरेगा, बिन सर थोथी भालि,
पड्‌या पुकारे बिरछ तरि, अजि मरै कै कालि॥

इसी व्याकुलता से मनुष्य का जीवन चरितार्थ होता है। सहज-साधना इसी व्याकुलता को जगा देने से स्वयं अग्रसर होने लगती है।

सच्चे प्रेम से सच्ची व्याकुलता उत्पन्न होती है। जिसे सच्ची व्याकुलता प्राप्त है, वह विधि-निषेध के बन्धन में नहीं बँधा रहता। लोक-लाज और शास्त्र के प्रति निष्ठा भी उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकती। सहज साधक के लिए यह प्रेम की बड़ी चीज है। किसी प्रकार का ऊपरी दिखावा मानसिक संकोच, प्रयत्न में झिझक, और उपलब्धि में हिचक इस सच्चे प्रेमिक को परिपूर्ण आत्म-समर्पण के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। वह सती भी क्या, जो लाज से चिता पर न चढ़ सके :

बिरहिनि थी तौ क्यों रहीं जली न पिव के नालि।
रहु-रहु मुगुध गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि॥

प्रेमोदय : जिसके चित्त में प्रेमोदयजन्य व्याकुलता आ जाती है, उसका होना सार्थक हो जाता है। मनुष्य का होना, उसकी सत्ता, यही तो

भाव है—भाव अर्थात् होना। भावों के आधार पर ही मनुष्य जीता है। भाव की चरितार्थता, जैसा पहले ही बताया गया है, किसी के लिए होने में है। जो 'होना' केवल होने के लिए है, केवल सत्ता-मात्र है, जो दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर अपने-आपको किसी के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित कर देने के लिए व्याकुल नहीं है, उसका होना व्यर्थ ही है। उससे तो न होना अच्छा :

कै विरहिनि कूँ मींच दे, कै आपा दिखराइ ॥
आठ पहर का दाझणाँ, मोंपै सह्या न जाइ ॥

सगुण मार्गी वैष्णव साधकों ने इस प्रेम-साधना को एक दूसरा ही रूप दिया है। मूल तत्त्व यहाँ भी वही है—भगवान् की लीला। भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नहीं है, चिन्मय रूप उसका एक अंग है, इसी चिन्मय रूप को ब्रह्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और रूप है, जो उसका ऐश्वर्यमय रूप है। इस ऐश्वर्यमय रूप को तत्त्व-वेत्ता लोग परमात्मा कहते हैं; परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है, वह प्रेममय है। यही भगवान् पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया करता है। अवतार के हेतु 'श्रीमद्भगवद्गीता' में साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश और धर्म की स्थापना को कहा गया है।

इन तीन उद्देश्यों से भगवान् प्रत्येक युग में सम्भूत होते हैं। सम्भूत शब्द का तात्पर्य यह है कि उनका सत्मय, चिन्मय और आनन्दमय रूप ठोस इन्द्रिय-ग्राह्य रूप को ग्रहण करता है। मध्यकाल में इन तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त एक और उद्देश्य भी स्वीकार किया गया है। वह है अपनी लीला-कीर्त्ति का विस्तार करके भक्तों पर अनुग्रह करने की इच्छा—'स्वलीला-कीर्त्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया', अर्थात् भगवान् अपनी लीला और कीर्त्ति का विस्तार करके भक्तों पर अनुग्रह करते हैं, इसीलिए इस प्रकार के अवतारों को 'लीला वपु' कहते हैं। लीला का कोई और प्रयोजन नहीं; लीला ही उसका प्रयोजन है। इसी लीला के द्वारा भगवान् भक्तों पर अनुग्रह किया करते हैं।

भाव : साधारण लोग भी कहते हैं कि भगवान् भाव के भूखे होते हैं। परन्तु, कम लोग जानते हैं कि इसका मतलब क्या है। भाव शब्द का अर्थ

है सत्ता; जो है वही। फिर भगवान् भाव के भूखे हैं, इसका क्या मतलब हुआ ? वैष्णव प्रेम-साधना में भाव का बड़ा महत्त्व है। सभी व्यक्तियों को अपनी प्रकृति का परिचय होना चाहिए। बिना अपने-आपको जाने मनुष्य अपने 'भाव' को नहीं जान सकता। मनुष्य का भाव वही है, जो वह वस्तुतः है। वस्तु-जगत् में भीड़-भाड़ है, संघर्ष है और मनुष्य के लिए सब वस्तुओं का प्राप्त करना सब समय सम्भव नहीं है। यदि मैं चाहूँ कि राजा हो जाऊँ, हजारों भृत्य नाना भाँति से मेरी सेवा करते रहें, विशाल प्रासाद और सुवर्ण सिंहासन का अधिपति होऊँ, तो यह बात लगभग असम्भव है। इसके लिए न जाने कितना संघर्ष करना पड़ेगा और सब करने के बाद भी सफलता मिलेगी कि नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। नहीं मिलेगी, यही कहना ठीक है। परन्तु वस्तु-जगत् से हट-कर यदि मैं भाव-जगत् में प्रवेश कर लूँ और मन-ही-मन अपने को राजा समझ लूँ और कल्पना की दृष्टि से हजारों भृत्यों की सेवा ग्रहण करने लगूँ, विशाल प्रासाद के भीतर रत्नजटित सुवर्णसिंहासन पर बड़े-से-बड़े दरबार में बैठ जाऊँ, तो इसमें कोई बाधा नहीं आ सकती, कोई संघर्ष नहीं करना पड़ेगा और यदि सचमुच कल्पना करने की शक्ति है, तो मुझे आनन्द तो पूरा मिलेगा, अधिक लाभ यह होगा कि वस्तु-जगत् के राजा को जितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, उतनी मुझे नहीं उठानी पड़ेंगी। सच तो यह है कि भावों की इस दुनिया में कोई कठिनाई है ही नहीं। इसमें एक ही खतरा है। यदि मैं अपने को पहचाने बिना ही इस प्रकार के काल्पनिक आनन्द में प्रवृत्त हो जाऊँ, तो थोड़ी देर बाद मेरा स्वप्नलोक टूट जायेगा और सीधे ही मैं वस्तु-जगत् में आ गिरूँगा। इसीलिए भाव-जगत् के साधक को अपनी प्रकृति को पहचानना पड़ता है। एक बार यदि यह प्रकृति समझ में आ गयी, तो भाव-जगत् का साधक कभी कष्ट अनुभव नहीं कर सकता। वह जो चाहेगा, वह उसके सामने सदा हाथ जोड़कर प्रस्तुत रहेगा। यह ठीक है कि मनुष्य का सम्पूर्ण रूप भाव-जगत् में विचरण नहीं कर सकता। उसका जड़-शरीर उसे स्थूल वस्तु-जगत् की ओर आकृष्ट करता रहता है। लेकिन जिसने भाव-जगत् की प्रधानता स्वीकार कर ली है, उसके लिए वस्तु-जगत् गौण हो जाता है। वह

आवश्यकता से अधिक उसमें नहीं उलझता। उसके जीवन का अधिकांश सुख और आनन्द भाव-जगत् में ही प्राप्त होता है।

भाव की साधना : बताया गया है कि नियमित साधना और गुरु की कृपा से साधक जब अपनी प्रकृति पहचान लेता है, तब वह सहज ही अपने भाव को पकड़ने लगता है। वस्तु-जगत् में यदि उन भावों को स्थूल विषयेच्छा के साथ मिलाया जाय, तो कदाचित् वे अच्छे नहीं माने जायेंगे। किन्तु भाव-जगत् में इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। संसार के विधि-निषेध गाह्य जगत् को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं। इन विधि-निषेधों की व्यवस्था करनेवाले धर्मशास्त्र वस्तु-जगत् की उपरली सतह की व्यवस्था को ही दृष्टि में रखकर नियमों का प्रवर्त्तन करते रहते हैं। परन्तु गहराई में जाने पर उनके ऊपर विधि-निषेधों और उनके ऊपर आधारित नैतिकता का कोई विशेष मूल्य नहीं है। जड़ वस्तुएँ, काल और देश दोनों की सीमाओं से बँधी रहती हैं। उनका संग्रह करने से उनके जीर्ण और नष्ट होने का भय बना रहता है और स्थान की कमी भी मालूम पड़ती है। परन्तु भाव-जगत् की वस्तुएँ इस प्रकार की सीमाओं से बँधी नहीं होतीं। इसीलिए उनमें नैतिकता का वह मानदण्ड निर्णायक नहीं हो सकता है, जो वस्तु-जगत् में प्रचलित है। साधक की प्रकृति यदि ऐसी हुई, जो वस्तु-जगत् में घृणित और निषिद्ध मालूम पड़ती है, तो भी उसे अपने को छिपाना नहीं चाहिए; क्योंकि इस जगत् की सबसे बड़ी विपत्ति अपने को छिपाने में अथवा गलत समझने में ही है। इसलिए सावधानी से साधक को अपनी यथार्थ प्रकृति को पहचान लेना बहुत आवश्यक है। दुराव-छिपाव इस क्षेत्र में अनावश्यक भी है और भयानक भी।

आचार्यों ने बताया है कि भाव ही जब गाढ़ हो जाता है, तब रस बन जाता है—'भावः स एव सान्द्रात्मा रसत्वमधिगच्छति'।

भाव के गाढ़ होने का अपना क्रम है। सबसे पहले साधक को निरन्तर अपने यथार्थ भावों के अनुकूल वस्तुओं की कामना करनी होती है। ये वस्तुएँ इस भाव-जगत् में अनायास उपलब्ध हो जाती हैं। कुछ दिनों तक इस प्रकार अनायास उपलब्ध हो जानेवाले पदार्थों से उत्पन्न सुख फीका पड़ जाता है। भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने बताया है कि इस प्रकार के

आनन्द के फीका पड़ने का हेतु जीवात्मा की अपूर्णता है। उसे केवल आनन्द और सुख के साधन ही नहीं चाहिए। इन सुखों की प्राप्ति का साक्षी साथी भी चाहिए। जिस दिन साधक इस साथी की खोज करने लगता है, उस दिन उसे अपनी यथार्थ प्रकृति का दूसरा परिचय मिलता है। साथी ऐसा होना चाहिए, जो उसका निकटतम प्रिय हो। वह साथी भी भाव-जगत् में मिल सकता है। यह प्रिया-रूप में, मित्र-रूप में, माता-पिता के रूप में या पुत्र के रूप में या प्रेमी के रूप में कल्पित होता है। यह जो निकटतम साथी है, वही उसका परम प्राप्तव्य है। अपने स्वभाव के अनुसार इन अनेक प्रकार के साथियों में से किसी एक की अभिलाषा की जाती है। अभिलषित साथी ही वस्तुतः भगवान् है। भाव-जगत् में उसके आ जाने के बाद ही साधना परिपूर्ण होती है। इस भाव-साधना का भक्तों में बड़ा विस्तार है। ब्यौरे में ऐसी अनेक बातें मिलती हैं, जो ऊपर से परस्पर विरुद्ध-सी लग सकती हैं, पर विरोध वास्तविक नहीं है। भावों की कोई संख्या नहीं नियत की जा सकती और मनुष्य-स्वभाव को देखते हुए यह भी नहीं कहा जा सकता कि रुचि और संस्कार को ही 'इदमित्थं' कहकर गिन लिया जा सकता है। भक्तों की रुचि और संस्कार के अनुसार भाव अनन्त हो सकते हैं। कोई भक्त इस पक्ष पर जोर देता है, कोई उस पक्ष पर। फिर सम्प्रदाय में शिष्यगण उसे ग्रहण करते हैं। जब कोई तेजस्वी शिष्य होता है, तब वह अपनी अनुभूति के अनुसार किसी नवीन पक्ष पर बल देता है और साहित्य आगे बढ़ता है। अनेक वैष्णव-सम्प्रदाय भाव की अनन्त सत्ता का विश्लेषण और प्रचार कर गये हैं; परन्तु मूल बात सर्वत्र एक है। गौड़ीय वैष्णवों ने भाव-साधना का बहुत ही व्यवस्थित साहित्य बनाया था। अन्यान्य भाव-साधकों को भी इस साहित्य ने प्रभावित किया था। इधर राम-भक्ति की मधुर-साधना का भी विपुल साहित्य उपलब्ध हुआ है। डा. भगवतीप्रसाद सिंह ने रामभक्ति शाखा के रसिक सम्प्रदाय का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। उससे इस शाखा के विशाल साहित्य का जो रूप उद्घाटित हुआ है, वह चकित कर देनेवाला है। रसिक शाखा के रामभक्त भी पाँच भक्ति-रसों को स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि भगवान् का सम्पूर्ण विग्रह ही रसमय है। किसी-

किसी महात्मा ने बारह रसों की भी कल्पना की है। इसी प्रकार अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भाव-साधना का विस्तृत साहित्य है। सारी बातों को यहाँ बताना सम्भव भी नहीं है, आवश्यक भी नहीं। व्यवस्थित और प्रेरक होने के कारण संक्षेप में गौड़ीय वैष्णवों के ग्रन्थों से कुछ सामग्री प्रस्तुत की जा रही है।

रागानुगा भक्ति : वैष्णव-शास्त्रों में इस साथी के प्राप्त होने के बाद की व्यवस्था को ही रागानुगा भक्ति कहा गया है। यह वैधी भक्ति से भिन्न प्रकार की होती है। जो नियम कर्त्तव्य-बुद्धि से स्थिर किये जाते हैं, उसे विधि कहते हैं। उसके निर्णय करने में शास्त्रकार बाह्य जगत् को दृष्टि में रखते हैं। भक्ति की उस अवस्था को, जिसमें बाह्य वस्तु-जगत् के नियमों के अनुकूल चलते रहने की प्रकृति बनी रहती है, वैधी भक्ति कहते हैं। इसमें स्वभाव की चिन्ता कम होती है और समाज के नियामक शास्त्र-कारों की व्यवस्था की अधिक। स्वभाव से जो रुचि उत्पन्न होती है, उसे स्वाभाविक रुचि कहते हैं, और स्वाभाविक रुचि से जो मनोवृत्ति उत्तेजित होती है, उसे राग कहते हैं। कहने का अर्थ यह हुआ कि इष्ट वस्तु के प्रति जो स्वाभाविक तन्मयता है, वही राग है और राग जिसके प्रति धावित होता है, वही इष्ट होता है। साधना की प्रथम अवस्था में भाव-जगत् में भी अनेक वस्तुएँ इष्ट होती हैं; परन्तु द्वितीय अवस्था में एकमात्र इष्ट वह साथी हो जाता है, जिसके बिना समस्त इष्ट समझी गयी वस्तुओं का आनन्द फीका पड़ जाता है। इस दूसरी अवस्था में आनन्द-उपभोग का जो साथी है, वही प्रधान इष्ट हो जाता है। भगवान् और बद्ध जीव में एक स्वभावगत पार्थक्य यह है कि भगवान् में वैराग्य की प्रधानता होती है और जीव में विषयासक्ति की। जड़ देह और जड़ विषयों के प्रति भी राग होता है। जब तक यह राग जड़ोन्मुख होता है, तब तक वह विषय-वासना कहलाता है; परन्तु ज्यों ही वह चिन्मुख होकर एकमात्र भगवान् को ही साथी मान लेता है, त्यों ही उसका यह राग प्रेम में बदलने लगता है। जड़-जगत् में विधि और राग में विरोध है, किन्तु चेतन-जगत् में अर्थात् भाव-जगत् में इनमें कोई विरोध नहीं। जब साधक भाव-जगत् में अपने परम इष्ट को प्राप्त कर लेता है, तब उसका भाव

धीरे-धीरे भाव-जगत् की ही अन्यान्य वस्तुओं से हटकर अपने-आपको परिपूर्ण करनेवाले चिद्घन आनन्द सन्दोह भगवान् में स्थिर हो जाता है। इसी स्थिर होने की प्रक्रिया को शास्त्रकारों ने सान्द्र (गाढ़) होना कहा है। इसी अवस्था में उस रस का परिपाक होता है, जिसका साधक भी प्रेम है और साध्य भी प्रेम है।

पाँच भाव : ऐसे कम भक्त हैं, जिन्हें गुरु की कृपा से, जन्म-जन्मान्तर के पुण्य-संस्कार से या भगवान् की असीम अनुकम्पा से एकाएक प्रेम की प्राप्ति हो जाय। साधारणतः भगवत्-प्रेम के उदय होने के समय इस प्रकार का क्रम देखा जाता है—श्रद्धा, साधु-संग, भजन क्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और प्रेम। जब प्रेमोदय हो जाता है, तब भक्त के चित्त के सभी विकल्प नष्ट हो जाते हैं और वह तीसरी बार निश्चित रूप से अपने स्वभाव को पहचान लेता है। शास्त्रकारों ने इन पाँच भावों के नाम इस प्रकार दिये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इन पाँच स्वभाव के भक्तों की रति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यह रति ही स्थायी भाव है। इसके प्राप्त हो जाने के बाद अन्य किसी भाव के आने या न आने का प्रश्न ही नहीं रहता है। इस रति का नाम भिन्न-भिन्न स्वभाव के भक्तों में क्रमशः शान्ति, रीति प्रेम, अनुकम्पा और कान्ता या मधुरा पड़ता है। साहित्य-शास्त्र में जो रस माने जाते हैं, वे जड़ोन्मुख होने के कारण यहाँ रस-रूप में गृहीत नहीं होते। किन्तु जड़-जगत् में जो स्थान शृंगार का है, वही चिद्-जगत् या भाव-जगत् में मधुर रस का है।

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि रति के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों की साधना भाव-जगत् में होती ही नहीं। वैष्णव शास्त्रियों ने अन्यान्य भावों को इसी का साधक बताया है। परन्तु यह भी सत्य है कि दूसरे भावों के माध्यम से भी भाव-जगत् की साधना चलती है।

मधुर रस : प्रेमारुरुक्षु भक्त इस प्रकार भावुक की दशा से होता हुआ, प्रेमी की दशा में पहुँचता है। यह प्रेम शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-रूप से चार प्रकार का होता है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भक्त को इन चार प्रकार के प्रेम का अधिकार है। अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ

रस है मधुर। इस रस में राधिका या चन्द्रावली के रूप से भक्त श्रीकृष्ण से प्रेम करता है। इनमें भी भगवान् की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण राधिका श्रेष्ठ हैं। अधिकार-भेद से भक्त राधिका या चन्द्रावली की सखियों के भावानुसार कृष्ण-संग प्राप्त करेगा। ये सखियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—सखी, नित्य-सखी, प्राण-सखी, प्रिय-सखी, और परमेष्ट सखी। इनके काम राधा या चन्द्रावली का पक्ष-समर्थन, प्रिय समागम-करण, हास-परिहास आदि हैं।

भक्ति-रस और काव्य-रस : श्रीकृष्ण शृंगार-रस के सर्वस्व हैं। श्रीराधिका की कृपा के सिवा उस रस में श्रीकृष्ण-प्राप्ति असम्भव है। इस जड़-जगत् में दैनन्दिन क्रिया के साधन-रूप में जड़ देह में वास करता हुआ भी भक्त भावना दशा में सिद्ध रूप में वास करता है। सखियों के नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्यदासी और निवास को अपने में चिन्ता करते हुए भक्तों के मन में ललिता आदि सखियों का अभिमान पैदा होता है और वे उस रूप की अनुभूति की ओर अग्रसर होते हैं। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रस के अधिकारी होते हैं। भक्तों के रस में और काव्य-रस में भेद यह है कि भक्ति का रस चिन्मुख होता है; अर्थात् वह चित्-घन-विग्रह श्रीकृष्ण को आश्रय करके प्रकट होता है, किन्तु आलंकारिकों का रस जड़ोन्मुख। भेद की कुछ और भी बातें हैं। इस रस-व्यापार में पाँच भाव होते हैं—स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी या व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव नाम प्राप्त रति विभाव, अनुभाव, सात्विक तथा व्यभिचारी भावों से स्वाद्य होकर भिन्न-भिन्न पाँच स्वभावों को ग्रहण करती हैं, जिन्हें क्रमशः शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर स्वभाव कहते हैं। जब संसार से विरत होकर चित्तवृत्तियाँ भगवान् मुकुन्द के ज्योति-स्वरूप में लीन हो जाती हैं, तब उस समय भक्त शान्त रस का अनुभव करता है। सनक सनन्दन आदि भक्त इसी रस के रसिक हैं। केवल प्रेम ही रस के मूल में काम करता है। 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में कहा है कि कब वह दिन आयेगा, जब पर्वत की कन्दरा के किसी विशाल वृक्ष के कोटर में बैठकर कौपीन धारण करके, कन्द-मूल खाकर बारम्बार मुकुन्द नामक उस चिदानन्द

ज्योति का ध्यान करते हुए क्षण-भर की तरह रात काट देंगे :

कदा शैलद्रौण्यां पृथुलविटपीक्रोडवसति-
र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः
हृदिध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दामिध महः
चिदानन्द ज्योतिः क्षणमिह हि नेष्यामि रजनीः ॥

प्रीति या दास्य रस में दो भाव रहते हैं, सम्भ्रम का और गौरव का। इसमें भक्त सर्वात्मना अपने को श्रीकृष्ण का दास समझता है। इस माधुर्य में भगवान् का प्रबल रूप ही प्रधान होता है। शास्त्र में दास चार प्रकार के बताये गये हैं : 1. अधिकृत : इस श्रेणी में ब्रह्मा, इन्द्र आदि आते हैं; 2. आश्रित : इस श्रेणी में कालिनाग, बहुलाश्व आदि भक्त आते हैं; 3. पारिषद् : इस श्रेणी में उद्धव, दारुक आदि आते हैं; 4. अनुग : इस श्रेणी में सुचन्द, मण्डन आदि भक्त आते हैं।

सख्य भाव : सख्य रस में वे भक्त आते हैं, जो उनके सखा थे। भक्त इन सखाओं का अभिमान करके भी भजन कर सकता है। श्रीकृष्ण के सखा कई प्रकार के थे। कुछ उनकी गैया चरा देते थे, कुछ चरवा लेते थे, कुछ उनका वेष सजाने के लिए पुष्प-चयन कर देते थे, कुछ सजा देते थे। कुछ विरहावस्था में उनका मनोविनोद कर देते थे, और कुछ राधिका, चन्द्रावली-जैसी सखियों के मान करने पर उनकी सखियों को तर्क में परास्त करके मिलन की भूमिका प्रस्तुत करते थे। शास्त्र में इनको चार श्रेणियों में बाँट लिया गया है : 1. सुहृद्, जो उम्र में बड़े थे और श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव रखते थे; 2. सखा, जिनमें दास्यमिश्रित प्रेम था और जो उम्र में छोटे थे, 3. प्रिय-सखा, जो श्रीकृष्ण के साथ कबड्डी और गुल्ली-डण्डा खेला करते थे, और अन्य केलियों के द्वारा उनका मनो-विनोद करते थे; 4. प्रिय-नर्मसखा, जो भगवान् के आभ्यन्तरिक मर्म के साथी थे। इनमें चौथी श्रेणी के भक्तों का स्थान सर्वश्रेष्ठ है।

वात्सल्य और माधुर्य भाव : श्रीकृष्ण के बाल-रूप को माता-पिता की भाँति वत्सल भाव से प्रेम करनेवाले भक्त वात्सल्य-प्रेमी कहे जाते हैं। इस रस के आलम्बन श्रीकृष्ण बाल-रूप, मधुर-भाषी, आज्ञाकारी, सरल तथा मर्यादा-निर्वाहक हैं। इसके बाद मधुर रस है, जो भक्ति-शास्त्र की

सर्वश्रेष्ठ साधना है। इस रस के आलम्बन हैं निखिल माधुर्य और श्री के स्वरूप भगवान् श्यामसुन्दर। राधिका और चन्द्रावली दो प्रधान नायिकाएँ हैं, जिनकी सैकड़ों सखियाँ हैं; प्रत्येक सखी के अलग यूथ हैं, प्रत्येक यूथ की यूथेश्वरी है। विशाला, ललिता, श्यामा, शैला, पद्मा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा आदि सखियाँ यूथेश्वरी हैं। राधा और चन्द्रावली सुष्ठु कान्त-स्वरूपा हैं। सोलहों शृंगार से वे देदीप्यमान हैं, उनके रूप और शोभा की जगमगाहट के सामने अष्टमांगलिक अलंकारों के सिवा बाकी द्वादश आभरण फीके पड़ जाते हैं। सुकुंचित केश, चंचल मुख-कमल, दीर्घ नेत्र, विशाल वक्षःस्थल, क्षीण कटि, आयत स्कन्ध, तरंगित त्रिवली, उद्भासित निर्मल नख-ज्योति, सुवृत्तबाहु, पद्माभ करतल—शोभा और श्री का लहराता हुआ समुद्र। फिर राधिका का तो क्या कहना!

श्रीराधा : पच्चीस गुणउनमें पाये जाते हैं—वे चारुदर्शना हैं, किशोरी हैं, चंचल-अपांगा, शुचिस्मिता, सौभाग्ययुक्ता, सुगन्धि से श्रीकृष्ण को उन्मादित करनेवाली, संगीतज्ञा, रम्यवचना, नर्म-मर्मज्ञा, विनीता, करुणामयी, विदग्धा, चतुरा, लज्जाशीला, सुमर्यादा, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सुविलासवती, परम उत्कर्षमयी, गोकुल के प्रेम में ही जीनेवाली, परम यशस्विनी, गुरुओं पर परम स्नेह रखनेवाली, सखियों की प्रणयाधीना, कृष्ण-प्रियाओं में मुख्य हैं और श्रीकृष्ण सदा उनकी आज्ञा के वशवर्त्ती हैं।

सरस प्रेमोन्माद : भगवान् की इस लीला को आश्रित करके मध्यकालीन भक्तों में सरस प्रेमोन्माद का नशा छा गया। भगवान् श्रीकृष्ण रसरूप हैं। यह भी माना गया कि वही एकमात्र पुरुष हैं और बाकी सब लोग स्त्री-भाव से ही उनका भजन कर सकते हैं। स्त्री-भाव अर्थात् निषेध-व्यापार-मूला शक्ति का भाव, जो अपने-आपको भगवान् श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही सम्पूर्ण भाव से निछावर कर देता है। फिर राधिका को ही उपास्य समझकर उन्हीं के सुख में अपना सुख मानने का अद्भुत व्रत भी एक श्रेणी के भक्तों में है। सब मिलाकर मधुर रस की साधना ने उत्तरकालीन भक्ति-रस की साधना को बहुत ही मनोरम और हृदयंगम धर्म

का रूप दिया। यहाँ भक्त भगवान् के लिए और भगवान् भक्त को पाने के लिए व्यग्र हैं, दोनों दोनों के बिना अपूर्ण हैं :

अपने अपने सुठि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री,
अँगनान में भींजत प्रेम भरे समयो लखि मैं बलि जाऊँ पै री।
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सौं, रँग हैं उमड़े दोऊ ठाँव पै री,
सखी कारी घटा बरसे बरसाने पै गोरी घटा नन्दगाँव पै री॥

यह मधुर रस की साधना सहज-साधना का अद्भुत विकास है। निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों को भी इसने प्रभावित किया था। कबीरदास में भी—

भीजै चुनरिया प्रेम रस बुंदन,
आरती साज के चली है सुहागन पिय अपने को ढूँढ़न।

या फिर,

अंखड़ियाँ झाँई परी, पंथ निहारि निहारि,
जीभणिया छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि।
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निसि जाम,
पपिहा ज्यों पिउ-पिउ करों, कब रे मिलोगे राम॥

ऐसे मधुर भाव के पद प्राप्त होते हैं। वस्तुतः सहज-साधना ने नाम-स्मरण और ध्यान को प्रेम-भक्ति का अंग बना दिया। यदि यह प्रेम है, तो नाम-जप हो तो भी जीवन सार्थक है, न हो तो भी कोई चिन्ता नहीं। यह प्रेम ही परम प्राप्तव्य है। यही परम पुरुषार्थ है। शुष्क नीरस जप, आडम्बरपूर्ण मन्त्रानुष्ठान और कृच्छ्र-साधनामूलक योग सब इस प्रेम-साधना के सामने फीके हैं और व्यर्थ भी हैं। सूरदास ने कहलवाया है :

ऊधो प्रेम रहित योग निरस काहे को गायो।

इस प्रकार इस प्रेम-साधना के सामने अन्यान्य सब साधनाएँ नीरस और फीकी हैं। अपने-अपने ढंग से भक्तों ने इसका बड़ा विस्तार किया है।

व्यक्ति और समाज : ततः किम् ! ये साधनाएँ बहुत उत्तम हो सकती हैं, व्यक्ति भावविह्वल अवस्था में परम-पुरुष के चिन्मय और प्रेममय रूप का साक्षात् कर सकता है और विशुद्ध आनन्द की अवस्था भी प्राप्त कर

सकता है। परन्तु इससे समाज को क्या लाभ है ! क्या इस साधना की पृष्ठभूमि में जो दर्शन है, वह हमारे सामूहिक उत्थान के लिए कुछ दे सकता है ? मैं उन लोगों में नहीं हूँ, जो गलदश्रु भावुकता के साथ कह उठते हैं, 'वाह ! भारतवर्ष की कितनी विपुल और विशाल साधना है !' क्या हुआ, जो दो-चार व्यक्ति परम-पद प्राप्त कर गये ! संसार की समस्या तो इससे सुलझ नहीं जायेगी। आज भी सहस्रों व्यक्ति दाने-दाने को मुहताज हैं। आज भी रोग, शोक, अशिक्षा और कुशिक्षा के वात्या-चक्र में कोटि-कोटि जनता भटक रही है। इनके उद्धार के लिए विशाल पैमाने पर काम करने के लिए जो सुविधा हमें जड़-विज्ञान ने दी है, क्या उसका इस तत्त्ववाद से कोई सामंजस्य है ? क्या पिण्ड में ब्रह्माण्ड समझने-वालों की शब्द-साधना और सुरति-साधना ही देश की समूची जनता को अन्न और वस्त्र दे सकती है ? क्या मतवाले मधुर भाव के साधकों की प्रेम-रस से स्निग्ध वाणी उन घावों की मरहम बन सकती है, जो दीर्घकालीन दरिद्रता और कुशिक्षा में कारण गहराई में प्रवेश कर चुके हैं ? क्या 'भूखे भजन न होंहि गोपाला' बहुत सच्चा वाक्य नहीं है ? मैं समझता हूँ कि हम न तो इस बात की उपेक्षा कर सकते हैं कि हमारा मुख्य प्रश्न इस समय कोटि-कोटि लोगों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना है, और न हम यही भुला सकते हैं कि इस युग में जड़-विज्ञान ने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन दिये हैं। व्यक्ति-मानव की समस्याओं को हल करना आज पर्याप्त नहीं है। समाज-मानव की समस्या ही हमारे विचारकों को अधिक व्याकुल और चिन्तित बनाये हुए है। इसलिए यदि हम आज की दुनिया की इन प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते, तो ये बड़ी-से-बड़ी साधनाएँ निरर्थक हैं। क्या होगा, इनकी चर्चा करके ?

समाज-मानव का उद्धार

ठीक है। जड़-विज्ञान को हम छोड़ नहीं सकते; लेकिन यह अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा मूल लक्ष्य मनुष्य का दुःख दूर करना है। आज सामूहिक मानव के उत्थान के लिए जो प्रयत्न हो रहे वह निस्सन्देह स्तुत्य हैं। परन्तु इन प्रयत्नों के पीछे कोई बड़ा तत्त्व-

वाद नहीं है। इसीलिए मनुष्य की सुख, सुविधा और सुरक्षा के नाम पर जो उत्पादन हो रहा है, वह जितना समस्या को हल करता है, उससे अधिक समस्या को पैदा करता है। बात यह है कि इसके मूल में ऐसी विचारधारा नहीं है, जो गहराई में जाकर ऊपरी सतह की समस्त हल-चलों को एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जा सके। एक ही विश्वब्रह्माण्ड-व्याप्त मूल चित्-शक्ति समस्त प्राणि-जगत् में व्याप्त है। मनुष्य के रूप में इसी का सर्वोत्तम विकास हुआ है। जो कुछ उस चित्-शक्ति के अनुकूल है, वह ग्राह्य है और जो कुछ उसके प्रतिकूल है, वह अग्राह्य है, अनाचरणीय है। मध्य-युग के सन्तों ने जटिल साधना-विधान को सहज बनाते समय उस मूल तत्त्व को ध्यान में रखा था। मनुष्य के विकास के अनेक स्तर हैं। वे सब वर्त्तमान मनुष्य को रूप देने में उपादान का काम कर रहे हैं। इन सन्तों के ग्रन्थों में आचरणीय और अनाचरणीय का विशद विचार है। किनसे सामाजिक मंगल होता है और किनसे व्यक्ति और समाज जड़िमा के मोह से युक्त होते हैं, उनकी ओर इंगित

चिन्मूलक सिद्धान्त

है। सारे आचरण-सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि जो आचरण चिन्मुख है, वह श्रेष्ठ है। जो प्रयत्न मनुष्य के बाह्य स्थूल अन्नमय कोष को सुखी बनाने के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे अच्छे हैं, बशर्ते कि मन्त्र-चैतन्य प्राप्त कर लिया गया हो। अर्थात् जो कुछ किया जा रहा हो, उसे निरन्तर यह समझा जाता रहा हो कि यह क्यों किया जाता है, उसका प्रभाव मनुष्य पर क्या पड़ता है और फिर जो प्रयत्न मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय और ज्ञानमय कोषों को, जो क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं, सुखी बनाने के उद्देश्य से किये जाते हैं, वे भी महत्त्वपूर्ण हैं, बशर्ते कि इन प्रयत्नों में भी मन्त्र-चैतन्य काम कर रहा हो। संक्षेप में, जो विचार और प्रयत्न केवल स्थूल जगत् को दृष्टि में रखकर किया जाता है, वह स्थूल होता है और द्वन्द्व और संघर्ष को पैदा कर सकता है। परन्तु जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चिन्मय स्तर प्रभावित होता है, वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह कोई नहीं कहता कि जड़-विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाएँ मनुष्य को सुखी और समृद्ध नहीं बना सकतीं; किन्तु प्रयत्न जड़ोन्मुख नहीं होना चाहिए, चिन्मुख

होना चाहिए। यदि जड़ ही लक्ष्य हो जायेगा, तो वह मनुष्य की वास्तविक मनुष्यता को ही दबोच देगा। मनुष्य का समस्त अहार-विहार, समस्त मन और प्राण चिन्मुख होकर सार्थक होता है, जड़ोन्मुख होकर अपने लिए और दूसरों के लिए कष्टकारक होता है। शरीर भी जड़-प्रकृति का विकार है, मन भी, बुद्धि भी। और बाह्य प्रकृति में दृश्यमान पदार्थ तो जड़ हैं ही। चित् के संयोग के द्वारा ही इनमें विभिन्न गुणों का विकास हो रहा है।

यान्त्रिकता का अभिशाप : इसलिए केवल इन्द्रियों के स्तर पर, मन के स्तर पर और बुद्धि के स्तर पर किये गये काम यद्यपि उत्तरोत्तर अच्छे होंगे, परन्तु अन्ततोगत्वा द्वन्द्व और संघर्ष ही पैदा करेंगे। आज मशीन केवल स्थूल रूप में ही हमारी सभ्यता को यन्त्रचालित नहीं बना रही है, हमारे सामाजिक संघटन और बौद्धिक विवेचन भी यान्त्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं। इसका कारण केवल जड़-तत्त्व को प्रधानता देनेवाली वृत्ति है। इसलिए सन्तों और भक्तों की वाणी का आज भी उपयोग है। वह मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यान्त्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज है। सिर्फ मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीन तत्त्ववाद है। चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है। यद्यपि सन्तों की वाणी में ठीक इन्हीं शब्दों में यह वाणी नहीं कही गयी है, परन्तु मन्त्र-तन्त्र की जटिल साधना को जिस प्रकार सहज-साधना में इन लोगों ने विकसित किया है, उसकी तर्कसंगत परिणति यही है। इसलिए समस्त मानवीय प्रयत्नों को यह विचारधारा एक स्पष्ट, सुचिन्तित और सुनिश्चित तत्त्ववाद (फिलासफी) देने में समर्थ है। यह आधुनिक जड़-विज्ञान पर आधारित मानवतावादी सिद्धान्त की पूरक है, विरोधी नहीं। इसीलिए मेरा विश्वास है कि इन मनीषियों के विचारों से आधुनिक विचारधारा समृद्ध और सशक्त हो सकती है।

तथास्तु।

• •

'राजकमल' से प्रकाशित आचार्य द्विवेदी की कृतियाँ

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा • चारु चंद्रलेख • अनामदास का पोथा
• पुनर्नवा

आलोचना

नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक • हिंदी साहित्य की भूमिका •
हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास • कबीर • सूर-साहित्य • मृत्युंजय रवींद्र •
कालिदास की लालित्य योजना • संदेश रासक • सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण
• मेघदूत . एक पुरानी कहानी • सहज साधना

ललित निबंध

कल्पलता • आलोक पर्व

अनुवाद

लाल कनेर [रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटक 'रक्तकरबी' का हिंदी रूपांतर]

संकलित रचनाएँ

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (ग्यारह भाग)

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

बचपन का नाम बैजनाथ द्विवेदी। श्रावण शुक्ल एकादशी संवत 1964 (1907 ई.) को जन्म। जन्म-स्थान आरत दुबे का छपरा, ओझवलिया, बलिया (उत्तर प्रदेश)। पिता श्री अनमोल द्विवेदी और माता श्रीमती ज्योतिष्मती। 1927 ई. में श्रीमती भगवती देवी के साथ विवाह। सात पुत्र-पुत्रियाँ। संस्कृत महाविद्यालय, काशी में शिक्षा। 1929 ई. में संस्कृत साहित्य में शास्त्री और 1930 में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्य की उपाधि पाई।

8 नवंबर, 1930 को हिंदी शिक्षक के रूप में शांतिनिकेतन में कार्यारंभ। वहीं अध्यापन 1930 से 1950 तक। अभिनवभारती ग्रंथमाला का संपादन, कलकत्ता : 1940-46। 'विश्वभारती' पत्रिका का संपादन, 1941-47। हिंदी भवन, विश्वभारती, के संचालक 1945-50। लखनऊ विश्वविद्यालय से सम्मानार्थ डॉक्टर ऑफ लिट्रेचर की उपाधि 1949। सन् 1950 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी प्रोफेसर और हिंदी विभागाध्यक्ष के पद पर नियुक्ति। 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय की एक्जीक्यूटिव काउंसिल के सदस्य 1950-53। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष 1952-53। साहित्य अकादमी दिल्ली की साधारण सभा और प्रबंध-समिति के सदस्य। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के हस्तलेखों की खोज (1952) तथा साहित्य अकादमी से प्रकाशित नेशनल बिब्लियोग्रैफी (1954) के निरीक्षक। राजभाषा आयोग के राष्ट्रपति-मनोनीत सदस्य 1955 ई.। सन् 1957 में राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधि से सम्मानित। 1960-67 के दौरान, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़, में हिंदी प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष। सन् 1962 में पश्चिम बंग साहित्य अकादमी द्वारा टैगोर पुरस्कार। 1967 के बाद पुनः काशी हिंदू विश्वविद्यालय में; जहाँ कुछ समय तक रैक्टर के पद पर भी रहे। 1973 में **साहित्य अकादमी** द्वारा पुरस्कृत। जीवन के अंतिम दिनों में 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान' के उपाध्यक्ष रहे। 19 मई, 1979 को देहावसान।

'राजकमल' से प्रकाशित आचार्य द्विवेदी की कृतियाँ

उपन्यास

बाणभट्ट की आत्मकथा • चारु चंद्रलेख • अनामदास का पोथा
• पुनर्नवा

आलोचना

नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक • हिंदी साहित्य की भूमिका •
हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास • कबीर • सूर-साहित्य • मृत्युंजय रवींद्र •
कालिदास की लालित्य योजना • संदेश रासक • सिक्ख गुरुओं का पुण्य स्मरण
• मेघदूत : एक पुरानी कहानी • सहज साधना

ललित निबंध

कल्पलता • आलोक पर्व

अनुवाद

लाल कनेर [रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटक 'रक्तकरबी' का हिंदी रूपांतर]

संकलित रचनाएँ

हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (ग्यारह भाग)

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना